प्रकाशक—
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

द्वितीय संस्करण : २००० प्रतियाँ : सवत् २००८ वि०
मूल्य ३)

मुद्रक—शंभुनाथ वाजपेयी
नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

—मेघदूत २-४६ ।

[सुख-दुःख किसी के भी सदा एक से नहीं रहते । परिवर्त्तन विश्व का नियम है । रथ के पहिए की तरह संसार की दशा ऊपर-नीचे घूमती रहती है ।]

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी-संसार ने अच्छा आदर किया है।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूपसे व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रु० अंकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवी-प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंको के साथ सम्मिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुशी देवीप्रसाद का वह दानपत्र काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के २६ वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

———

अपने विषय में

दीपावली के दिन सिंध में,

रात्रि की नीरव निश्चलता में वायु के विशाल सागर को चीरती हुई गाड़ी अचानक डोकी स्टेशन पर खड़ी हुई। इधर उधर खलबली मची। यात्री जल्दी जल्दी सामान उतरवा रहे थे।

स्टेशन से बाहर आकर कुली ने पूछा—'हजूर कहाँ जाना है।' मैंने कहा—'मोहें जो दड़ो'*।

एक कौतूहल-पूर्ण हास्य की रेखा कुली के मुख-मंडल पर दौड़ गई। कुछ क्षण चुप रहने के बाद वह बोल उठा—हजूर, आज दीवाली का दिन है। इस खुशी के दिन लोग शहरों की रोशनी देखने जाते हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि आज आप एक उजाड़ शहर देखने क्यों जा रहे हैं।

---

* साधारणत. यही नाम प्रचलित है। पर मोढेरा (उत्तर गुजरात) से ठा० खेतसिंह नारायण जी मिश्रण लिखते हैं—"सिंधी भाषा में इसका शुद्ध नाम 'मुहें जो डेरो' (=मरे हुओं का टीला) है"। यह सूचना पुस्तक छप जाने पर प्राप्त हुई।

—प्रकाशक

अचभे में आकर मैंने गरीबी से झुलसे उस कुली के शरीर को सिर से पैर तक देखा। यह घटना आज से ठीक पाँच वर्ष पूर्व की है।

× × × . ×

इस घटना का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस दिन तक मैं भारत के एक बड़े समाज की अज्ञानता के विषय में सोचता भर था, किंतु वह दिन उन कहानियों को प्रत्यक्ष रूप में भी ले आया। मैंने उसी समय यह सकल्प किया कि पुरातत्त्वविषयक कुछ पुस्तकें हिंदी भाषा में लिखूँगा। तब से इन पाँच वर्षों में ससार ने अनेक दिशाओं में अपनी काया पलटी है और मैं भी ससार की क्रीडास्थली का एक तुच्छ जीव होकर इन परिवर्त्तनों से अछूता नही रहा हूँ। लगभग तीन वर्षों तक मैं भारत के विभिन्न प्रातों में सग्रहालय-रक्षण, पुरातत्त्व तथा कला की शिक्षा प्राप्त करता रहा। इस अव्यवस्थित जीवन से मेरे पुस्तक-लेखन के कार्य में बडी बाधा पडी। अन्य व्यक्तिगत बाधाओं ने भी मुझसे बदला चुकाने का यही एक उपयुक्त अवसर समझा। किंतु आज की परिस्थिति-विशेष में भूत की प्रतिकूल घटनाएँ भी मुझे अनुकूल जान पड़ रही हैं। इस बीच पर्याप्त अवकाश पाकर एक लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं सिंधु-सभ्यता के अवशेषों का ध्यानपूर्वक एव प्रत्यक्ष अध्ययन कर सका। इसके अतिरिक्त इस बीच मुझे इतिहास के अनेक विद्वानों से भेंट करने तथा उनकी कृतियों को पढने का अवसर प्राप्त हुआ जिससे मेरे इतिहास-ज्ञान को नवीन चेतना प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने पाडित्य की कृत्रिम ममता तथा लोभ से दूर रहने का प्रयत्न किया है। प्रातःस्मरणीय पितामह भीष्म के शब्द "एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते" मुझे प्रतिक्षण सावधान करते रहे हैं, तथापि स्वाभाविक मनुष्य-प्रवृत्ति के कारण मुझे अपनी धारणाओं को प्रकट करने में सकोच नहीं हुआ है। कह नहीं सकता कि मेरा इस दुरूह विषय का विश्लेषण विद्वानों को कहाँ तक मान्य होगा। इधर हिंदी-

साहित्य में विशुद्ध पुरातत्त्वविषयक एक भी पुस्तक नहीं है और इसी भारी कमी को पूर्ण करने का एक संकेत इस पुस्तक के रूप में अवतरित हुआ है। पुस्तक की अधिकर सामग्री मैंने सर जॉन मार्शल, डा० मैके, श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, (स्व०) श्री ननीगोपाल मजूमदार तथा श्री माधवस्वरूप वत्स की पुस्तकों से ली है। इसके अतिरिक्त मैंने आज तक प्रकाशित सिंधु-सभ्यता संबंधी अनेक लेखों का अध्ययन करके इस पुस्तक में विद्वान् लेखकों की धारणाओं का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। यह सत्य है कि इनमें कई धारणाएँ विवादग्रस्त हैं और उनपर विद्वानों में मतभेद हैं। किंतु एक इतिहासज्ञ को प्रत्येक 'शोधक की धारणाओं का आदर करते हुए उनका गंभीर रूप से विवेचन करना चाहिए। हम सभी प्राणी ईश्वर की इस सृष्टि में विभिन्न सूझ, समझ तथा मस्तिष्क लिए उद्भूत होते हैं। अतएव 'अकारण ही हमें शोधकों की धारणाओं को महत्त्वशून्य तथा उपेक्षणीय घोषित नहीं करना चाहिए।

इतिहास में हमें सत्य को विशेष स्थान देना चाहिए। इतिहासज्ञ का सत्यभाषी होना नितांत आवश्यक है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर इतिहास लिखनेवालों की एक धारा सी उमड़ पड़ी है। देश में वीरपूजा को रूढिगत प्रवृत्ति के कारण समाज पर उनका प्रभाव भी स्थिर हो रहा है। किंतु इससे देश के इतिहास का बड़ा अहित हुआ है। ऐसे लेखकों का हमें सहर्ष स्वागत करना चाहिए, परंतु जब कि वे देश-प्रेम के आवेश में आकर सत्य की अवहेलना न करें। इतिहासज्ञ अपने वर्णन की यथार्थता के द्वारा ही किसी युग, किसी सभ्यता अथवा किसी संस्कृति का सम्यक् दिग्दर्शन करा सकता है। पुरातत्त्व ने तो आज हमारे लिये इतिहास की शृंखलाओं को जोड़ने की सुंदर सामग्री प्रस्तुत कर दी है। अतः इस बात की पूर्ण आशा की जा सकती है कि जागरण तथा विश्व क्रांति के इस युग में भारतीय इतिहासज्ञ पुरातत्त्व का आश्रय लेकर भारतीय इतिहास के नव-निर्माण में सहायक होंगे।

अभी तक भारत के प्रागैतिहासिक युग पर विशेष अनुसधान नहीं किए गए हैं। कुछ भूगर्भशास्त्रियों का ध्यान अवश्य इस ओर आकर्षित हुआ है, किंतु उनका ध्येय इतिहास-निर्माण नहीं है। यह निर्विवाद है कि भारत में प्रागैतिहासिक युग की प्रचुर सामग्री है। क्या यह आशा करना अनुचित होगा निकट भविष्य में हमारे देश की कोई सस्था या इतिहासज्ञ इस विशेष विषय पर अनुसधान कर भारत के प्रागैतिहासिक युग की सम्यता पर प्रकाश डालेंगे ?

इस पुस्तक के अनेक स्थलों पर मैंने तुलनात्मक दृष्टिकोण का आश्रय लिया है और साथ ही अनेक लौकिक एव धार्मिक पद्धतियों का उद्गम बतलाने का भी प्रयत्न किया है। फिर ऐतिहासिक काल में इन परंपराओं का क्या स्वरुप था और क्या रह गया है, इस प्रश्न पर भी प्रकाश डालने की मैंने चेष्ठा की है। वैदिक सम्यता का उल्लेख तो सभवत आवश्यकता से अधिक हो रहा है। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वैदिक तथा सिंधु-प्रांत की सम्यताएँ एक सी थीं। अनेक विद्वानों का पदानुसरण करते हुए मैं भी सिंधु-सम्यता को अनार्य सभ्यता मानता हूँ। किंतु यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि इन दोनों सम्यताओं में कई बातों में समानता भी है। ऋग्वेद प्राचीन आर्य महर्षियों के ज्ञान तथा कई युगों की विशिष्ट सम्यताओं एवं सस्कृतियों का अक्षय भडार है और अनेक परपराओं का मूल जानने के लिये इस ग्रथ की शरण लेना परम आवश्यक है।

इतिहास-निर्माण की सामग्री हमें केवल शुष्क तथा रक्तहीन हड्डियों और नसों के रूप में प्राप्त होती है। इनमें न तो मनुष्य की कल्पना और न किसी प्रकार का शब्दजाल ही सहायक हो सकता है। इस कठिनाई के कारण कदाचित् कुछ पाठकों को यह पुस्तक रूखी जान पड़े। फिर मुझे अनेक अँगरेजी शब्दों के उचित हिंदी नाम भी प्राप्त नहीं हो सके हैं।

शब्दों के लिये मुझे स्वय एक भाषाविद् का चोला पहिनना पड़ा है। मैं कह नहीं सकता कि मुझे अपने प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, किंतु मैं अपने प्रेमी पाठकों के सम्मुख महाकवि तुलसीदासजी के इन शब्दों को ही रख कर संतोष कर लेता हूँ—

"समुझि विविध विधि विनती मोरी, कोउ न कथा सुनि देइ हि खोरी"

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर-जनरल रावबहादुर श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, एम० ए०, एफ० आर० ए० एस० बी० ने इस पुस्तक के लिये पचीस ब्लाक तथा कुछ चित्रों के ब्लाक बनाने की अनुमति देने की कृपा की है। समय समय पर आपने मुझे इस पुस्तक के संबध में अनेक सलाहें भी दी हैं। आपकी इन असीम कृपाओं के लिये मैं हृदय से आपका ऋणी हूँ।

खेद है कि कतिपय कारणों से चित्र स० २०, २१ तथा २२ के ब्लाक नहीं बन सके हैं।

इस पुस्तक की रूप-रेखा प्रस्तुत करने में मेरे मित्र, प्रातीय सग्रहालय, लखनऊ के विद्वान् अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल० बी० तथा मेरे अभिन्नहृदय श्री श्यामाचरण काला, एम० ए० ने बडी सहायता की है। मैं आप लोगों का आभारी हूँ।

जियोलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया के डाइरेक्टर महोदय ने मुझे अनेक बहुमूल्य तथा अल्पमूल्य पत्थरों के नाम बतलाने की कृपा की है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक की अधिकतर सामग्री मैंने सेंट्रल आरकियोलॉजिकल लायब्रेरी, नयी दिल्ली: इंडियन म्यूजियम आरकियोलॉजिकल सेक्शन लायब्रेरी, कलकत्ता; इंपीरियल लायब्रेरी, कलकत्ता; प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम लायब्रेरी, बम्बई, पब्लिक लायब्रेरी, इलाहाबाद तथा बनारस हिंदू युनिवर्सिटी लायब्रेरी से संचय की है। मुझे इन सब पुस्तकालयों के

अध्यक्षों ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं, जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

मेरे गुरु डा० रमाशकर त्रिपाठी, एम० ए० पी०-एच० डी० (लदन) ने इस पुस्तक के कुछ अध्यायों को देखने की कृपा की है। मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने इस पुस्तक का प्रकाशन-भार लेकर हिंदी साहित्य के एक बडे अभाव को पूरा किया है। सिंधु-सभ्यता संबंधी जो थोडी पुस्तकें हैं भी वे एक तो अँगरेजी भाषा में हैं और दूसरे उनका मूल्य भी बहुत अधिक है। सभा ने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा इन कठिनाइयों को दूर कर दिया है। इस कार्य के लिये सभा के अधिकारीगण तथा भारत कलाभवन के प्राण श्री राय कृष्णदास मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अत में मै इतिहास के उन उद्भट विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनसे मिलकर तथा जिनके लेखों को पडकर मेरा इतिहास-ज्ञान अनेक दिशाओं में आलोकित हुआ है।

तीन वर्ष के अविश्रात जीवन के पश्चात् एक वार फिर विद्यार्थी-जीवन की ओर लौटना मेरे जीवन की एक असाधारण घटना है। कदाचित् भगवान् बुद्ध का स्नेहमय आदेश था कि मैं त्रिधर्म तथा सस्कृति की इस अनुपम त्रिवेणी श्री पुण्या वाराणसी में आकर अपने जीवन को अतिम शिक्षा ग्रहण करूँ।

यदि इस पुस्तक के पन्नो पर दृष्टिपात करने से भारत के थोडे से भी व्यक्ति प्राचीन भारतीय सस्कृति की आत्मा तथा वास्तविक मूल को पहिचानने मे समर्थ हो सकें तो मै अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

चितरजन एवेन्यू,
साउथ, कलकत्ता
दीपावली, स० १९९७

सतीशचन्द्र काला

निर्देश

(१) सर जॉन मार्शल (संपादक)—
मोहें जो दड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन, ३ जिल्द—मो० इं० सि० ।

(२) डा० अ० मैके—
फर्दर एक्सकैवेशंस एट मोहें जो दडो, २ जिल्द—फ० य० मो० ।

(३) माधवस्वरूप वत्स—
एक्सकैवेशंस ऐट हड़प्पा, २ जिल्द—य० ह० ।

(४) श्री काशीनाथ दीक्षित—
प्रिहिस्टॉरिक सिविलाइजेशन ऑव दि इंडस वैली—प्री० सि० इं० वे० ।

(५) डा० अ० मैके—
दि इंडस सिविलाइजेशन— इ० सि० ।

(६) रैप्सन (संपादक)—
कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १—कैं० हि० इं० ।

रिपोर्ट, जर्नल आदि

(७) मेमॉयर्स ऑव् दि आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया—आ० स० मे० ।

(८) आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट—आ० स० रि० ।

(९) इडियन हिस्टॉरिकल कार्टरली (कलकत्ता)—इ० हि० का० ।

(१०) जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी—ज० रा० ए० सो० ।

(११) जर्नल रॉयल ऐंथ्रोपॉलॉजिकल सोसाइटी (बंबई)—ज० रॉ० ऐं० सो० ।

(१२) ,, ,, ,, इंस्टीट्यूट—ज० रॉ० ऐं० इ० ।

(१३) ऐनुअल बिब्लियोग्रैफी ऑव इंडियन आर्कियोलॉजी (कर्न इन्स्टीट्यूट) ऐ० बि० इ० आ० ।

(१४) जर्नल इंडिया सोसाइटी ऑव ओरियंटल आर्ट—ज० इं० सो० ओ० आ० ।

(१५) जर्नल यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी—ज० यू० पी० हि० सो० ।

(१६) जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल—ज० ए० सो० बं० ।

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
(१) प्रथम अध्याय—सिंधु प्रांत	..	...	१
(२) द्वितीय अध्याय—सिंधु प्रांत निवासी तथा नगर काल			२१
(३) तृतीय अध्याय—(१) रीति रस्म तथा जीवन		...	३१
(४) चतुर्थ अध्याय—(२) रीति रस्म तथा जीवन		..	६८
(५) पचम अध्याय—धर्म ...	...	...	८३
(६) षष्ठ अध्याय—कला-कौशल	...	...	१२४
(७) सप्तम अध्याय—स्थापत्य	...	...	१५६
(८) अष्टम अध्याय—अन्य देशों के साथ संबंध		...	१८६
(९) उपसहार ...	...	...	२०५

चित्र-सूची

		पृष्ठ
१	मोहें जो दड़ो से प्राप्त पत्थर की मूर्ति।	१३१
२	,, ,, नर्तकी(१, २)।	१२२
३	,, ,, पुरुष आकृति की मृण्मूर्ति।	१२७
४	,, ,, स्त्री ,, ,,	३८, ८६
५	,, ,, ,, ,,	८६
६	,, ,, कुछ मृण्मूर्तियाँ	८६
७	,, ,, की एक मृण्मूर्ति।	३८
८	आटा गूँधते हुए बनाई गई एक ,,।	८८
९	मोहें जो दड़ो से प्राप्त लिंग तथा योनियाँ।	६४
१०	,, ,, स्वर्ण तथा पत्थर की गुरियाँ।	४२
११	हड़प्पा से प्राप्त अलंकरण सहित एक बर्तन।	१५३
१२	,, ,, कुछ आभूषण।	४१
१३	,, का एक शवागार।	७५
१४	मोहें जो दड़ो की एक प्रधान सड़क	१७२
१६	,, की एक सुंदर सड़क का दृश्य।	१७२

---

* पृ० १२२ पर चित्र सं० २ के बदले ३ छप गई है। कृपया पाठक सुधार कर पढ़ लें।

१७ मोहें जो दड़ो के एक मकान का कुआँ।	१६५
१८ ,, के शौच-गृह तथा स्नानगृह।	१६७
१९ ,, का बड़ा स्नानागार।	१६८
२० ,, की एक सड़क।	१७२
२१ ,, सींगों सहित एक आकृति।	६१
२२ झुककर बैठे बदर की मूर्ति।	१०६
२३ हड़प्पा से प्राप्त पत्थर का धड़।	१३३
२४ मोहें जो दड़ो से प्राप्त मुद्राएँ (अ, ब)	६०
२५ हड़प्पा की ताँबे की गाड़ी।	४८
२६ एक चाँदी की कलसी।	४२

स्वर्गीया
राजू दीदी को—

मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता

प्रथम अध्याय

सिंधु प्रांत

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकताएँ आविष्कारों की उत्पादिका होती हैं। इसी परम सत्य के अनुसार मनुष्य की गवेषणात्मक प्रवृत्ति कर्मण्य होती है और वह एक अपूर्व उत्सुकता से अभिभूत हो जाता है। अतरात्मा मे प्रश्न उठते हैं—ससार जो पहले था, वही अब भी है, या अब परिवर्तित रूप मे दृष्टिगोचर होता है? यदि परिवर्तन हुआ तो किन परिस्थितियो में और कैसे तथा कब? क्या मनुष्य की ही तरह सब वस्तुएँ आयुक्रम के अधीन हैं? इत्यादि। यही जिज्ञासाएँ किंवदंतियों और दंतकथाओं की ओर मनुष्य के ध्यान को आकृष्ट करती हैं। इनके विश्लेषण की ओर वह प्रवृत्त हो जाता है।

हम आज सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। इस सीढ़ी पर पहुँचकर हम पीछे देखने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। हमे ध्यान

सिंधु प्रांत का मानचित्र
खैरपुर

मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता

प्रथम अध्याय

सिंधु प्रांत

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकताएँ आविष्कारों की उत्पादिका होती हैं। इसी परम सत्य के अनुसार मनुष्य की गवेषणात्मक प्रवृत्ति कर्मण्य होती है और वह एक अपूर्व उत्सुकता से अभिभूत हो जाता है। अंतरात्मा में प्रश्न उठते हैं—संसार जो पहले था, वही अब भी है, या अब परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है? यदि परिवर्तन हुआ तो किन परिस्थितियों में और कैसे तथा कब? क्या मनुष्य की ही तरह सब वस्तुएँ आयुक्रम के अधीन हैं? इत्यादि। यही जिज्ञासाएँ किंवदंतियों और दंतकथाओं की ओर मनुष्य के ध्यान को आकृष्ट करती हैं। इनके विश्लेषण की ओर वह प्रवृत्त हो जाता है।

हम आज सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। इस सीढ़ी पर पहुँचकर हम पीछे देखने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। हमें ध्यान

खैरपुर
जैसलमेर

मोहेंजो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता

प्रथम अध्याय

सिंधु प्रांत

सभ्यता आवश्यकताओ की जननी है और आवश्यकताएँ आविष्कारो की उत्पादिका होती हैं। इसी परम सत्य के अनुसार मनुष्य को गवेषणात्मक प्रवृत्ति कर्मण्य होती है और वह एक अपूर्व उत्सुकता से अभिभूत हो जाता है। अतरात्मा में प्रश्न उठते हैं—ससार जो पहले था, वही अब भी है, या अब परिवर्तित रूप मे दृष्टिगोचर होता है? यदि परिवर्तन हुआ तो किन परिस्थितियों में और कैसे तथा कब? क्या मनुष्य की ही तरह सब वस्तुएँ आयुक्रम के अधीन हैं? इत्यादि। यही जिज्ञासाएँ किंवदंतियों और दंतकथाओं की ओर मनुष्य के ध्यान को आकृष्ट करती हैं। इनके विश्लेषण की ओर वह प्रवृत्त हो जाता है।

हम आज सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। इस सीढ़ी पर पहुँचकर हम पीछे देखने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। हमे ध्यान

हो आता है अपने वैदिककालीन आर्य्यों का, उपनिषद्, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत और पुराण निर्माणकर्त्ताओं का और तद्गत महापुरुषो का तथा आज अविश्वसनीय सभ्यता के अगो का। हम आश्चर्य करते हैं राम ने समुद्र में कैसे पुल बॉधा होगा ? पुष्पक-विमान क्या वस्तु रही होगी ? महाभारत के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना और उसके योद्धाओ ने कैसे वे सब विचित्र कौशल दिखलाए होंगे। योरप के वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित होकर हम सोचने लगते हैं क्या हमारे यहॉ भी ऐसे मनीषी हुए हैं ? हम पढ़ते हैं, ससार की समस्त ज्ञानराशि मनुष्य की मस्तिष्क-कक्षाओं में चेतन और अर्धचेतन अवस्थाओ में रहती है। विचार आता है—प्राचीन काल में भी तो रही होगी। यही विचार एक से एक शृ खला-बद्ध होकर हमको इतिहास के आदिकाल तक ले जाते हैं। लेकिन हमारी तत्त्वान्वेषण-प्रवृत्ति इतिहास की दीवारो को भेदकर 'उस पार' झॉकने के लिये उत्सुक हो उठती है और परिणाम-स्वरूप हमारा ध्यान पुरातत्त्व विभाग पर जाता है जो अपने कार्य्यों से ससार के ज्ञान-भाडार को भर रहा है।

खोज और अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक सस्कृति की आयु होती है—उसकी बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था होती है। हमारी आज की सस्कृति एवं सभ्यता का भी कोई न कोई स्वरूप तथा आधार रहा होगा।

सस्कृति के तत्त्वान्वेषण के लिये आज की वैज्ञानिक सुविधाओं ने मार्ग सरल कर दिया है। भूगर्भ-विद्या के प्राप्त ज्ञान के आधार पर पृथ्वी के पर्तों को उखाडकर प्राचीन सस्कृति को प्रकाश में लाया जा रहा है। पात्रो की सहायता से खोदी हुई वस्तुओं की आयु नापी जा रही है और इन सब साधनों से ५०००

वर्ष पहले तक के मनुष्यों के रहन-सहन और साधारण संस्कृति का अंदाजा लगाया जा सका है।

अँगरेजी साम्राज्य स्थापित होने पर लोगों में भारतीय इतिहास को जानने का प्रबल इच्छा हुई। अठारहवीं सदी के अंत में भारतीय इतिहास के भग्नावशेषों की खोज जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने की। उन्होंने हुयेनसांग के भ्रमण-ग्रंथों की शरण ली और बहुत से प्राचीन स्थान ढूँढ़ निकाले। उनकी खोजें महत्त्वपूर्ण तो हैं किंतु नवीन प्रकाश पड़ने पर आज उनकी अनेक धारणाओं का खंडन होता जा रहा है।

सन् १९०० ई० में भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड कर्जन ने एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था—

"असीरिया, मिश्र तथा योरप के कुछ भग्नावशेषों के साथ तुलना करने पर अधिकतर भारतीय भग्नावशेष अधिक प्राचीन नहीं ठहरते। यह हो सकता है कि मेरी धारणा संदेहजनक हो, किंतु मेरा विचार है कि प्राचीनतम स्मारक भिन्न-भिन्न प्रकार की कला तथा शिल्प से सुसज्जित साँची का स्तूप है, जिसकी वेदिका का निर्माण ई० पू० तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ होगा। उस समय चाल्डिया के राजमहल, मिश्र की गुफा मसजिदें तथा पिरैमिड सैकड़ों वर्ष प्राचीन हो चुके थे। भारत में एथेन्स के पैरेथियोन के सदृश कोई अन्य इमारत नहीं है*।"

पुरातत्त्व-विभाग के स्थापित होने से पहले भारतीय इतिहास की बहुत कम दृष्ट सामग्री थी। यह सत्य है कि दंत-कथाओं के

---

* प्रोसिडिंग्ज ऑव दी एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल १९००, पृ० १५७।

आधार पर भारत का एक सुचारु इतिहास वन सकता था, किंतु उसकी सत्यता पर सभी सदेह करते। क्योंकि स्वभावतः मनुष्य प्रत्येक घटना की सत्यता के लिये प्रमाण मॉगता है। परिणामतः लोग भारत की धार्मिक महत्ता, उसके पारलौकिक, लौकिक-दर्शन तथा आचार-विचार की श्रेष्ठता को मानते तो अवश्य थे, किंतु भारतीय इतिहास की सामग्री को वे वहुत पीछे नहीं ले जाते थे। भीठा, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली आदि स्थानों की खुदाई में भी ऐसे कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त नहीं हुए जिनसे कि अति प्राचीन समय पर कुछ प्रकाश डाला जाता।

किंतु सन् १६२२ ई० में भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य्य कर डाला। इस साल प्रागैतिहासिक युग की जो वस्तुएं मोहे जो दड़ो मे मिलीं, उन्होंने भारत के अंधकारमय युग पर नवीन प्रकाश डाल दिया है। यदि आज लार्ड कर्जन भी यहॉ पर होते तो प्रसन्नता के साथ, अपनी धारणा मे परिवर्तन करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते। वास्तव में लार्ड कर्जन का ध्येय भारतीय इतिहास की महत्ता को कम करना न था। कर्जन सौंदर्य के अनन्य उपासक थे, और वे अस्त सभ्यताओं के मनुष्यो तथा अवशेपो का विशेप आदर करते थे।

गत ४० वर्पों में भीठा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वैशाली, सारनाथ, सहेत महेत, लौरिया नंदनगढ, पहाडपुर, राजगृह, नालंदा आदि आदि प्राचीन स्थानो में पुरातत्त्व विभाग ने विशद खुदाइयॉ की हैं। प्रसन्नता की वात है कि इन स्थानों से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर भारत का वहुत कुछ इतिहास ज्ञात हो गया है।

यदि आज ये वस्तुऍ हमारे सम्मुख न होतीं तो हम भारतीय इतिहास के विपय मे कुछ न जान पाते। चिरकाल से भारत

भविष्यवादी रहा है। यहाँ के ऋपियो ने भूत को नापने या उसको चिरस्थायी रखने की कोई चेष्टा नहीं की। क्योंकि बीता काल उनके लिये विशेष महत्त्व का नहीं था। इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि पारलौकिक विपयों के चिंतन में संलग्न होने के कारण, प्राचीन ऋपि-मुनि इतिहास से उदासीन रहते थे*। प्राचीन काल में इतिहास की महत्ता जानते हुए भी ऋषि मुनि भूत को भूलना चाहते थे। वे सर्वथा वर्तमानवादी थे।

किंतु उन्होंने इतिहास को स्थायी रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यदि उन्होने हिरोडोटस या टैसिटस की तरह ऐतिहासिक राजवंशावलियो तथा घटनाओं को शृंखलाबद्ध रख छोड़ा होता, तो आज हमें भारत की अनेक विडम्बनाओं के लिये अँधेरे मे व्यर्थ नहीं भटकना पड़ता।

अब सिंधु प्रांत की खुदाइयो तथा मनुष्यो के दृष्टिकोणों में परिवर्त्तन होने के कारण भारत का एक नवीन इतिहास बन गया है। अनेक भारतीय तथा वैदेशिक विद्वानो ने यह भी स्वीकार किया है कि सिंधु प्रात की सभ्यता, सभ्यता तथा संस्कृति के जन्मदाता समझे जानेवाले देशों, मेसोपोटेमिया तथा मिस्र से अनेक दिशाओं में बढ़ चढ़कर थी।

इस सभ्यता को सम्प्रति हम सिंधु-सभ्यता कहेंगे, क्योकि इसकी उत्पत्ति तथा विकास सिंधु नदी के तट पर ही हुआ था। ससार के इतिहास में नदियों ने कई सभ्यताओं को जन्म दिया है। एक युग था जब कि वीरान तथा ऊसर देशों को छोड़कर लोग नदियों के तट पर बसते थे। यहाँ पर उर्वरा भूमि के कारण

---

* इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।—छान्दोग्य उपनिषद् ७, १, २।

उनकी भोजन-समस्या सुलझ जाती थी। घास और पानी की सुविधाओ के कारण वे मवेशियों को भी पाल सकते थे। ऐसी सुविधाजनक परिस्थिति मे रहकर, उनकी कल्पना जागृत हो उठी और परिणाम-स्वरूप उन्होने अनेक ऐसी वस्तुओ तथा विचार-धारा का निर्माण किया जिनसे कि कालांतर मे एक विशिष्ट सभ्यता वन गई। सिंधु, नील तथा फरात नदियों के तट पर इसी प्रकार से सभ्यताएँ उत्पन्न हुईं।

नदियो की इस सुदर देन से प्रसन्न होकर ऋग्वेद के ऋषि-मुनियों ने भारत की नदियो के यश के सुदर गान गाए—

इम मे गगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि-स्तोम सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वधे-वितस्तयार्जीकीये श्रुणुह्या सुषोमया॥
(ऋ० १०, १५, ५)

सिधु नदी के तट पर एक समय सिंधु प्रांत का एक अज्ञात नगर वसा था। आजकल इस स्थान के लिये 'मोहें जो दडो' कहते है, जिसका अर्थ सिधी भाषा में 'मृतको का स्थान' होता है। यह स्थान सिंधु प्रात के लरकना नामक प्रदेश में स्थित है। यहाँ जाने के लिये एन० डवल्यू० आर० के डोकी नामक स्टेशन पर उतर जाना पड़ता है। यहाँ से 'मोहें जो दड़ो' आठ मील की दूरी पर है।

मोहे जो दडो शब्द सिधु-प्रात मे नवीन नहीं था। आपसी वातचीत मे लोग प्राय इसका वर्णन किया करते थे। आजकल तो भारत मे प्राचीन स्थानो का महत्त्व वढ गया है। लोग प्राचीन वस्तुओ की खोज मे प्राचीन टीलो का भ्रमण करते रहते हैं। किंतु कुछ वर्ष पहले इने-गिने व्यक्तियो ही की दृष्टि प्राचीन खँडहरो की ओर जाती थी। मोहे जो दड़ो का दृश्य उस समय देखने में वड़ा विचित्र था। लगभग २६६ एकड़ भूमि पर

असंख्य निष्प्राण एवं सैकड़ो पगो की ठोकरे खाकर भी जीवित रह सकनेवाली ईंटें तथा मिट्टी के बर्तन पड़े थे। एक समय तो इन ईंटो द्वारा बनी दीवारों ने संपन्न लोगो को आश्रय दिया होगा और मिट्टी के बर्तनों ने सैकड़ो लोगो की क्षुधा और पिपासा शांत की होगी। शताब्दियो तक इस नगर के भग्न रूप को देखनेवाले केवल वनचर, उलूक तथा कीड़े-मकोड़े रहे। इन टीलो के ऊपर अनेक नदी तथा नाले फूट पड़े थे। यह स्थान बड़ा भयानक तथा सुनसान दिखलाई देता था।

पुरातत्त्व विभाग के अफसरो ने कई बार इन टीलों का निरीक्षण किया किंतु सन् १९२२ ई० तक यहाँ पर कोई खुदाई का कार्य्य प्रारभ नहीं किया जा सका। सन् १९२२ ई० में (अब स्वर्गीय) श्री राखालदास बनर्जी इस स्थान पर स्थित कुषाण-कालीन विहार तथा स्तूप के चारो ओर खुदाई कर रहे थे। इस बौद्ध विहार पर कई युगो की ईंटे लगी थीं। स्तूप से २० फीट की गहराई पर सबसे पहला प्राकार मूल था। अचानक खुदाई मे श्री बनर्जी को प्रागैतिहासिक युग की मुद्राएँ मिल गई। ऐसी ही अनेक मुद्राएँ कई वर्ष पूर्व सर कनिंघम ने मॉंटगोमेरी नामक प्रदेश में स्थित हड़प्पा गॉव से प्राप्त कर ली थीं। कनिंघम महोदय ने हड़प्पा के टीलो पर साधारण खुदाई भी की। उन्हे कुछ पत्थर के हथियार तथा एक मुद्रा भी मिली। इस मुद्रा पर कूबड़दार बैल का चित्र था। उस समय कनिंघम साहब की धारणा थी कि यह मुद्रा भारतीय नहीं किंतु वैदेशिक है*। श्री बनर्जी को शीघ्र ही इस स्थान की प्राचीनता का पता

* कनिंघम—आरकियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १८७५, जिल्द ५, पृ० १०८।

लग गया। उत्सुक होकर बनर्जी महोदय ने स्तूप की ओर का पूर्वी भाग तथा निकट के ही दो अन्य टीलों को खुदवाया। उनका अनुमान था कि नीचे की तहें स्तूप के निर्माणकाल से तीन चार सौ वर्ष प्राचीन हैं। प्रागैतिहासिक युग की नालियाँ तथा कमरे भी श्री बनर्जी ने खोदे। इन महत्त्वपूर्ण खुदाइयों के कारण भारतीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने विशद योजना से इस स्थान पर खुदाई प्रारभ की। दस वर्षों के अदर यहाँ पर जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनसे ही इस स्थान की महत्ता का पता चल गया है। बनर्जी महोदय के बाद सर जॉन मार्शल, डा० अर्नेस्ट मैके, श्री काशीनाथ दीक्षित तथा श्री (अब स्वर्गीय) दयाराम साहनी का कार्य्य विशेष महत्त्वपूर्ण रहा। उधर हड़प्पा में श्री दयाराम साहनी तथा श्री माधवस्वरूप वत्स ने भी अनेक महत्त्व की खुदाइयाँ कीं। सिंधु-प्रात की तीक्ष्ण जलवायु में इन अफसरों ने जिस त्याग एव साधना से कार्य्य किया उसके लिये सारा ससार इनका चिर ऋणी रहेगा। आज मोहें जो दडो तथा हड़प्पा मे स्थानीय सग्रहालय भी स्थापित कर दिए गए हैं जहाँ पर पुरातत्त्वप्रेमी, नगर-शैली तथा अन्य बातों के साथ-साथ, यहाँ से प्राप्त वस्तुओं का भी अवलोकन कर सकते हैं।

जब मोहें जो दडो तथा हड़प्पा में खुदाइयाँ हो रही थीं तो पुरातत्त्व के पडितों ने यह अनुमान किया कि यह सभ्यता एक ही दो स्थानों तक सीमित नहीं रही होगी। सर्वप्रथम इस सभ्यता के अवशेष ढूँढने के लिये सर औरियल स्टाइन तथा मि० हारग्रीव्ज ने बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया मे भ्रमण किया और भाग्यवशात् उन्हें अपने अपने परिश्रमों का उ त फल प्राप्त हुआ। इन पडितों की खुदाइयों तथा खोजों से ज्ञात हुआ है कि सिंधु-सभ्यता भारतीय सीमा को लाँघकर बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया तक पहुँची थी।

श्री (अब स्वर्गीय) एन० जी० मजूमदार ने सिंधु प्रांत के विभिन्न स्थनो में दौरा किया। उन्होंने किरथर पहाड़ी के समानांतर बसे प्रागैतिहासिक स्थानो का निरीक्षण किया। उनके अनुसार हैदराबाद (सिंधु प्रांत) से लेकर जैकोबाबाद तक प्राचीन उपनिवेशों या नगरों की एक पंक्ति थी। १९३९ ई० मे श्री मजूमदार फिर सिंधु प्रांत के द्वितीय निरीक्षण के लिये नियुक्त हुए; किंतु खेद है कि उन्हें कुछ डाकुओ ने दादू नामक स्थान में मार डाला। उनकी मृत्यु से भारत का एक प्रगाढ़ पुरातत्त्व-पंडित खो गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अपने युग मे हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो राजधानियाँ थीं। इस समय के देखने से तो यही विदित होता है कि हड़प्पा आकार में मोहें जो दड़ो से बड़ा है। एक बार उजड जाने पर संभवतः किसी भी प्रागैतिहासिक स्थान पर नगर नहीं बसाए गए। यहाँ तक कि कुछ के निकट तो बाद की बसाकत के चिह्न तक नहीं दीख पड़ते। केवल सैकड़ो वर्ष बाद बौद्ध धर्म के प्रचलन के साथ साथ मोहें जो दड़ो में एक बौद्ध स्तूप तथा विहार बना। मुद्राशास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि यह विहार कुषाणवंशीय नरेश वासुदेव के काल से चल रहा था। ईसवी पाँचवीं या छठी शताब्दी तक के सिक्के यहाँ पर प्राप्त हुए हैं। संभवतः यह स्थान ईसवी १५० से ५०० तक जागृत रहा*।

गत कुछ वर्षों में भारत के कई प्राचीन नगर खोदे गए हैं, किंतु इनमें अधिकतर खंडित अवस्था मे पाए गए हैं। संतोष का विषय है कि मोहें जो दड़ो के मकान तथा दीवारें भारत के

---

* मार्शल—मो० ई० सि० पृ० १२३।

अन्य दबे नगरों से बहुत सुरक्षित हैं। इसी कारण निस्संकोच यह बतलाया जा सकता है कि इस नगर की निर्माण-प्रणाली मिस्र तथा बेबीलोन से उच्चतर है*।

मोहें जो दड़ो में पाई गई वस्तुओं से पता चलता है कि यह नगर समृद्धिशाली था। इसका वास्तु तथा आरोग्यरक्षण विभाग सभ्यता की किसी उच्च दशा में ही उत्पन्न हो सका होगा। जीवन की कतिपय सुविधाएँ भी लोगों को उपलब्ध थीं।

आज नहरों के जाल बिछाए जाने के कारण सिंधु प्रांत फिर से उपजाऊ बना दिया गया है। किंतु प्राचीन काल मे यहाँ अप्राकृतिक साधनों से प्राप्त जल की आवश्यकता न थी। समय समय पर इस प्रात के निवासियों को प्रचुर मात्रा में वृष्टि का जल उपलब्ध हो जाया करता था।

भौगोलिक दृष्टिकोण से भी कोई नगर वहीं पर बस सकता है जहाँ पर कि खेती, पशु-पालन तथा रहन-सहन की अन्य सुविधाएँ हों। चीन के गोबी, अफ्रिका के सहारा और राजपूताना के रेगिस्तानो में बसने की स्वप्न में भी मनुष्य चेष्टा नहीं करेगा। मनुष्य सदैव अनुकूल जलवायु के स्थानों को अपने निवास के लिये ढूँढ़ता है। मोहे जो दडो तथा हड़प्पा के बसने से पहले इन सभी बातों को देख लिया गया होगा। नालियों की प्रचुरता से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में सिंधु-प्रात मे जल की कमी न थी। नम जलवायु को पसद करनेवाले पशु जैसे गैडा तथा भैंस का चित्रण प्राय मुद्राओं पर दीख पडता है। वाघ का कोई चित्रण न पट्टियों पर है और न मुद्राओं पर, क्योंकि

* प्रोग्रेस ऑव साइस ड्यूरिंग दि पास्ट ट्वेंटी फाइव इयर्स पृ० २६१।

बाघ सदैव सूखी हवा को पसद करता है। पत्तियों, तथा वृक्षों के चित्रण से भी ज्ञात होता है कि वहाँ सुदर हरे भरे वृक्ष थे। फिर मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा (निम्न तल) मे पकाई हुए ईंटे ही प्रयुक्त हुई हैं। ऐसी ईटो पर पानी अपना असर नहीं करता। पकाई हुई ईटो मे अधिक खर्च लगता है। और यदि सिंधु प्रात निवासियों को वर्षा का भय न होता तो वे अवश्य सस्ती तथा कच्ची ईटो को ही इमारतों में काम मे लाते। फिर कच्ची ईटें कमरो को ठडा भी रख सकती थी। और इस बात को अवश्य सिंधु प्रांत निवासी जानते थे। किंतु उन दिनो वहाँ का जलवायु इतना गरम नहीं था, जितना कि आज कल है*।

मुसलमान तथा अरब इतिहासज्ञो के भ्रमण-वृत्तांतो में हम सिंधु प्रांत मे वर्षा ऋतु और वर्षा होने का वर्णन पाते हैं। अमीर तैमूर के धावे (सन् १३९८ ई०) तथा आईने अकबरी की समाप्ति (सन् १५९५-९६ ई०) तक के २०० वर्षों में ही सिंधु प्रांत की जलवायु में विशाल परिवर्त्तन हो चुके थे। १८९२ ई० में डेविड रौस ने लिखा था—सिंधु प्रात मे कभी वर्षा नहीं होती। कभी कभी तो लगातार यह देश जल-विहीन रहता है। वेस्टमैकोट ने लिखा है कि एक बार बीस वर्ष तक सिंधु-प्रांत में वर्षा नहीं हुई। इन भ्रमणकर्ताओं के वर्णनो से ज्ञात होता है कि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी तक सिंधु प्रांत जल के लिये तरसने लगा था। आज सिंधु प्रांत का जलवायु विचित्र है। जाड़े मे तो चुभती हुई ठडी हवाएँ चलती हैं और ग्रीष्म ऋतु में भयकर गर्मी पड़ती है। गर्मी के तापक्रम का औसत

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २, ३।

९५ डिग्री और जाडो का ६० डिग्री है। किंतु ग्रीष्म ऋतु में तापक्रम कभी कभी ११४ से १२० डिग्री तक पहुँच जाता है* ।

प्राचीन सिंधु-प्रांत की समृद्धि केवल वर्षा ऋतु पर ही नहीं, वरन् सिंधु नदी के जल पर भी अवलंबित थी। प्रति वर्ष वर्फ के गलने पर यह नदी मैदानो में पुलिनमय मिट्टी तथा जल पहुँचाती थी। इसकी लम्बाई घुमाओ के सहित इस समय लगभग ५८० मील है। किंतु जहाँ सिंधु नदी से इतने लाभ थे, वहाँ इससे हानियाँ भी कम नहीं थीं। लोगो को समय समय पर भयंकर बाढ़ों की आशका रहती थी। उनको अपने जीवन तथा मकानो को सुरक्षित रखने के उपचार ढूँढ़ने पड़ते थे। वर्ष में कभी कभी सिंधु नदी में इतनी भयकर बाढ़ें आती थीं कि इसके तट पर बसे लोगों को अपने प्राण बचाकर, रात्रि हो या दिवस, भागना पड़ता था। फिर सिंधु नदी इन नगरों को अपने आँचल मे सदैव के लिये छिपा लेती थी। किंतु यहीं तक इन आतकों की इतिश्री नहीं थी। यह नदी तो अपने पुलिन तक को वदल देती थी। फिर मनुष्य अपना सब कुछ खोकर जहाँ पर वे पानी के चश्मे या सोते देखते, बस जाते। पानी की नहरों से भी प्रायः काम चल जाया करता था। पोखरन गाजीशाह, डामबूथी, बधनी नामक स्थान ऐसे ही जल की सुविधा के स्थानों में बसे थे। ये सभी स्थान सिंधु नदी से दूर बसे हैं। सिंधु नदी के स्थायी पुलिन न होने का परिणाम यह भी हुआ कि इस प्रात की कोई भी राजधानी

---

* इपीरियल गजेटियर ऑव इडिया, १९०८, जि० २२ पृ० ३९३।

† आ० स० मे० नं० ४८, पृ० १४६।

अधिक समय तक नहीं रही। थोड़े वर्षों के अंतर्गत कई नगर इसके तट पर वसे और फिर नष्ट हुए*।

अरब इतिहासज्ञों ने लिखा है कि उनके काल में सिंध मे सबसे बड़ी नदी 'मिहिरान' थी। 'इश्तखारी' मे लिखा है कि सिंध की नदी (जिसे सिंध की मिहिरान कहते हैं) का उद्गम-स्थान एक पर्वत पर है जिससे कि जिहूं की शाखाएँ निकलती हैं। पर्वत से निकल कर मुल्तान के निकट होकर, मिहिरान वस-मिद और अलोर की सीमा को पार करती है और फिर मन्-सूरिया होते हुए देवाल के पूर्व में गिरती है। सिंध रुद यहाँ से तीन दिन के रास्ते पर है। मिहिरान के साथ मिलने से पहले भी इसका पानी बड़ा मीठा है। इन इतिहासज्ञो ने तीन नदियो (१) सिंधु या आवे सिंध (२) विआह (व्यास) तथा (३) हक्रा वा हिंद या सिंध सागर का सुंदर वर्णन किया है। लगभग इन सब नदियो का पानी जमा होकर मिहिरान में जाता था। मुल्तान से आगे जाकर ये सब नदियाँ दोशे आव (आधुनिक साहिव) नामक स्थान पर मिलती थीं।†

अरब विजय के समय सिंधु प्रांत में सबसे बडी नदी हक्रा थी। इसकी दो शाखाओं में से एक पश्चिम की ओर अलोर के निकट होकर वहती थी। डेल्टा पहुँचकर एक तो सीधे समुद्र मे तथा दूसरी कच्छ की खाडी मे गिरती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वार-वार पुलिन वदलने से हक्रा की शाखाएं भी अलग-अलग हो गई। हक्रा नदी स्वय भूमि के अंदर कई स्थानो में

---

* पित्यिवाला—ए ज्योग्रैफिकल एनेलेसिस ऑव दि लोअर इंडस वेसिन (सिंध), पृ० १२।

† ज० ए० सो० वं० जिल्द ६१, पृ० २११-१२।

लुप्त हो जाती थी। यह हक्रा शायद वेदो मे वर्णित सरस्वती नदी है*। अमरकोष में वर्णित यह नदी इस प्रांत को उदीच्य तथा प्राच्य भागों में बॉटती थी।

सभवत. चौदहवीं शताब्दी के मध्य में सिंधु नदी ने अचानक मिहिरान को छोड़ दिया। मेजर रेवर्टी इसका कारण भयकर बाढ का आना बतलाते हैं†। इस समय दो नदियॉ समानांतर रूप में समुद्र में गिरती थीं।

अब यह देखना है कि सिंधु प्रांत के इतने ऐश्वर्य्यशाली स्थान कैसे अधकार में विलीन हुए। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा को शायद कभी किसी बाहरी शत्रु ने बुरे ढग से नहीं लूटा था। भारत के प्राचीन नगरो का नाश तो क्रूर या बर्बर जातियों ने, जिन्हें हिंदू धर्म और सस्कृति से घृणा थी, किया। किंतु सिंधु प्रात के नगरो का नाश पोषण करनेवाली प्रकृति ने ही किया। एक ओर तो जलवायु में परिवर्त्तन हुए और दूसरी ओर बाढ़ों का आतक रहा।

जलवायु-परिवर्त्तन के कई कारण बतलाए गए हैं। जलवायु विशारदों का मत है हिम युग तथा उसके पूर्ववर्ती युग में उत्तर वेगानिल कटि आर्कटिक के दबाव से दक्षिण की ओर खिसक गई। इस धारणा के अनुसार सहारा, मिश्र, अरब, मेसोपोटेमिया, फारस, बलूचिस्तान तथा सिंधु प्रांत में एक बार सुंदर वर्षा होती थी।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मौसमी हवाओं के रुख में परिवर्त्तन होना ही मोहें जो दड़ो के नष्ट होने का कारण

---

* मॉर्डन रिव्यू—अगस्त १६३२, पृ० १५४।

† ज० ए० सो० ब० जिल्द ६१, पृ० ३६१-६२।

है*। मौसमी हवाएँ बराबर अपना रुख बदलती जा रही हैं। आज-कल की दो मौसमी हवाओं में दक्षिण पश्चिमी तो कच्छ में लखपत तक ही रुक जाती है, उत्तरी पूर्वी हवा कराची से आगे नहीं बढ़ती। सिंधु प्रांत में फिर स्वाभाविक वर्षा भी नहीं होती। वर्ष भर में कभी कभी ८ ही इंच की औसत में पानी बरसता है†। फिर जलवायु-विशारदों की गणनाएँ भी बतलाती हैं कि सिंधु प्रांत में दिनोंदिन कम वर्षा हो रही है। चौदहवीं शताब्दी में जो मुसलमान भारत में आये थे उन्होंने मुल्तान में वर्षा ऋतु का होना लिखा है। किंतु आज मुल्तान में नाम मात्र ही के लिये वर्षा होती है। प्राचीन काल में मुल्तान एक प्रसिद्धिप्राप्त स्थान था। अल मसूदी ने लिखा है कि मुल्तान की सीमा के अंदर १,२०,००० गाँव और रियासतें हैं। उस समय लोग मुल्तान को फराख या सोने का खजाना कहते थे। १३९८ ई० के लगभग मुल्तान में इतनी घोर वर्षा हुई थी कि अमीर तैमूर की सेना के सब घोड़े, जो उसके पुत्र के अधीन थे, वह गए थे। मनसूरिया के लिये भी कहा गया है कि यह एक अच्छा खेतिहर स्थान था।

अब हम नदियों के रुख का विवेचन करेंगे। सिंधु प्रांत की सभी नदियाँ प्रायः बर्फ से ढके पर्वतों से निकलती हैं। वर्ष में कई बार विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में, बर्फ के गलने पर, इन नदियों में बाढ़ आती है। ऋग्वेद तक में लिखा है कि एक बार रावी में भयंकर बाढ़ आई थी‡। मोहें जो दड़ो की विभिन्न

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ३।

† इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, १९०८, पृ० ३९४।

‡ ऋ० ७, १८, ५।

लुप्त हो जाती थी। यह हक्रा शायद वेदों में वर्णित सरस्वती नदी है*। अमरकोष मे वर्णित यह नदी इस प्रांत को उदीच्य तथा प्राच्य भागों में बॉटती थी।

सभवत. चौदहवीं शताव्दी के मध्य में सिंधु नदी ने अचानक मिहिरान को छोड़ दिया। मेजर रेवर्टी इसका कारण भयकर बाढ का आना बतलाते हैं†। इस समय दो नदियॉ समानांतर रूप में समुद्र में गिरती थीं।

अब यह देखना है कि सिंधु प्रांत के इतने ऐश्वर्य्यशाली स्थान कैसे अधकार में विलीन हुए। मोहें जो दडो तथा हड़प्पा को शायद कभी किसी बाहरी शत्रु ने बुरे ढग से नहीं लूटा था। भारत के प्राचीन नगरो का नाश तो क्रूर या बर्बर जातियों ने, जिन्हें हिदू धर्म और सस्कृति से घृणा थी, किया। किंतु सिंधु प्रात के नगरों का नाश पोषण करनेवाली प्रकृति ने ही किया। एक ओर तो जलवायु में परिवर्त्तन हुए और दूसरी ओर बाढ़ों का आतक रहा।

जलवायु-परिवर्त्तन के कई कारण बतलाए गए हैं। जलवायु विशारदों का मत है हिम युग तथा उसके पूर्ववर्ती युग में उत्तर वेगानिल कटि आर्कटिक के दबाव से दक्षिण की ओर खिसक गई। इस धारणा के अनुसार सहारा, मिश्र, अरब, मेसोपोटेमिया, फारस, बलूचिस्तान तथा सिंधु प्रांत में एक बार सुंदर वर्षा होती थी।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मौसमी हवाओं के रुख में परिवर्त्तन होना ही मोहें जो दड़ो के नष्ट होने का कारण

---

* मॉडर्न रिव्यू—अगस्त १६३२, पृ० १५४।

† ज० ए० सो० व० जिल्द ६१, पृ० ३६१-६२।

है*। मौसमी हवाएँ बराबर अपना रुख बदलती जा रही हैं। आज-कल की दो मौसमी हवाओं मे दक्षिण पश्चिमी तो कच्छ में लख-पत तक ही रुक जाती है; उत्तरी पूर्वी हवा कराची से आगे नहीं बढ़ती। सिंधु प्रांत मे फिर स्वाभाविक वर्षा भी नहीं होती। वर्ष भर मे कभी कभी ८ ही इंच की औसत में पानी बरसता है†। फिर जलवायु-विशारदो की गणनाएँ भी बतलाती है कि सिंधु प्रांत मे दिनोदिन कम वर्षा हो रही है। चौदहवीं शताब्दी मे जो मुसलमान भारत मे आये थे उन्होंने मुल्तान में वर्षा ऋतु का होना लिखा है। किंतु आज मुल्तान में नाम मात्र ही के लिये वर्षा होती है। प्राचीन काल में मुल्तान एक प्रसिद्धिप्राप्त स्थान था। अल मसूदी ने लिखा है कि मुल्तान की सीमा के अंदर १,२०,००० गाँव और रियासतें हैं। उस समय लोग मुल्तान को फराख या सोने का खजाना कहते थे। १३९८ ई० के लगभग मुल्तान मे इतनी घोर वर्षा हुई थी कि अमीर तैमूर की सेना के सब घोड़े, जो उसके पुत्र के अधीन थे, बह गए थे। मनसूरिया के लिये भी कहा गया है कि यह एक अच्छा खेतिहर स्थान था।

अब हम नदियो के रुख का विवेचन करेंगे। सिंधु प्रांत की सभी नदियाँ प्रायः बर्फ से ढके पर्वतों से निकलती हैं। वर्ष में कई बार विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में, बर्फ के गलने पर, इन नदियों में बाढ़ आती है। ऋग्वेद तक मे लिखा है कि एक बार रावी में भयंकर बाढ़ आई थी‡। मोहें जो दड़ो की विभिन्न

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ३।

† इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, १९०८, पृ० ३९४।

‡ ऋ० ७, १८, ५।

तहों से ज्ञात होता है कि यहाँ बाढ़ के दो प्रकोप हुए थे और दो ही बार यह नगर फिर से बसा था। यहाँ तक कि १६३६ ई० में मोहें जो दड़ो के कुछ टीलों तक बाढ आई थी। संभव है ऐसी ही कोई भयकर बाढ मोहें जो दड़ो के अतिम युग में भी आई हो जिसने सिंधु सभ्यता को सदैव के लिये छिन्न-भिन्न कर डाला। छोटी छोटी बाढों के कारण तो लोग मकानो को थोड़े ही दिनों के लिये छोड़ते थे, किंतु बड़ी बाढ़ के आने पर उन्हें काफी समय तक बाहर रहना पड़ता था*। मकानो के लिये पीठिकाएं भी इसी लिये बनती थीं। देहलियाँ भी सदैव सड़क की सतह से ऊँची होती थीं। नदियो के किनारो पर प्राय: मिट्टी जमा हो जाती थी। उस समय सिंधु नदी शायद धीमी गति से बहती थी, किंतु फिर भी आकस्मिक बाढ़ें आ ही जाती थीं। इधर-उधर मिट्टी तथा वालू भरती आ रही थी। तीस फीट की गहराई तक पकाई हुई ईंटें प्राप्त हुई हैं। ऐसे मिट्टी तथा वालू से भरे तटो पर नदियों के रुख में परिवर्त्तन होना स्वाभाविक ही है। केवल बर्फ के गलने पर ही बाढ़ें नहीं आती थीं। इस प्रात में तो विचित्र वर्षा होती थी। इस कारण कई बंध टूट जाते थे और इस प्रकार धन जन की गहरी क्षति होती थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सिंधु प्रांत की नदियाँ बराबर अपना रुख बदलती आ रही हैं। प्राचीन नदियों के पुलिन मुल्तान के पश्चिम मे अभी तक दृष्टिगोचर होते हैं। मुजफ्फरपुर जिले के बीच से होकर शायद एक बार सिंधु नदी बहती थी। वर्नेज सन् १८३४ ई० में आम्री आया था। एक स्थान पर उसने लिखा है कि आम्री बड़ा समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन काल मे

---

* मैके—फ० य० मो० पृ० ८।

यह नगर एक राजधानी था। सिंधु नदी के ही कारण इसका नाश हुआ। वर्टन सिंधु-प्रांत मे सर्वे का एक अफसर था। नदियों के बारे मे वह लिखता है—"सिंधु प्रांत मिट्टी का एक ढलुवाँ टुकड़ा है। इस भूमि पर सिंधु नदी इतनी जल्दी नए रास्ते बनाती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ईंटों की जरा ऊँची दीवार को सिंधु नदी के पुलिन में खड़ी कर देने से नदी से एक नहर फूट पड़ती है। यह नदी एक विशाल राजधानी तथा बीस कस्बों को तुरत नष्ट कर सकती है। हरे-भरे बगीचों को यह रेगिस्तान बना सकती तथा रेगिस्तानों को सुंदर उद्यान बना सकती है"*।

जब यवन लोग भारत में आए तो उन्होंने भी नदियों के बहाव में परिवर्त्तन पाया। एक बार आरिस्टोबोलस को अलेक-जेंडर ने एक कमीशन में भेजा। रास्ते मे एक स्थान पर उसने एक हजार से ऊपर नगरों और गाँवों को उजाड़ देखा। इनके उजाड़ होने का कारण सिंधु नदी का पूर्व की ओर बहना था†।

इस समय सिंधु नदी मोहें जो दड़ो से ३½ मील की दूरी पर है। प्राचीन काल में यह शायद नगर के अति निकट बहती रही हो। लोहूम जो दड़ो, चन्हू दड़ो तथा मोहें जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों में बालू के कण मिले हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि ये स्थान नदियों के निकट थे। आज सिंधु नदी चन्हू दड़ो से १२ मील की दूरी पर है, किंतु यहाँ से २ मील की दूरी पर अभी तक नदी का एक पुलिन दीख पड़ता है। इस नदी की शाखाएँ शायद बार बार चन्हू दड़ो पर धावा करती थीं। बाढ़ आने पर चन्हूदड़ो-निवासी लंबे अर्से के लिये अपने नगर को छोड़ देते

---

* वर्टन—सिंदे, जिल्द १, पृ० २०२।

† स्ट्रैबो, १५ (सी) ६८८।

थे। मोहें जो दड़ो में दूसरी बार के मकान पुरानी दीवारों पर ही रखे जाते थे, किंतु चन्हूदड़ो में ऐसा नहीं होता था। चन्हूदड़ो मे लंबे अर्से तक मकानों के छूट जाने के कारण उन पर कूड़ा, मिट्टी आदि भर दी जाती थी। इस कारण नए मकानों की नींवें इसी कूड़े मिट्टी से बनी भूमि पर डाली गईं। प्राचीन दीवारें तो कहीं नीचे दब जाती थीं।

हड़प्पा का नाश भी रावी के पुलिन में परिवर्त्तन होने के कारण हुआ। इस समय रावी हड़प्पा से ६ मील उत्तर को बहती है। आजकल जहाँ हड़प्पा स्थित है वहाँ की भूमि बिल्कुल उपजाऊ नहीं है। हड़प्पा के टीलों* के चारो ओर मूल पर पडे ईंटों के बडे बड़े ढेरों से ज्ञात होता है कि वे बाढ़ के लिये बंधों का काम देते थे। उधर चकपुरवाने स्याल नामक स्थान का नाश व्यास नदी के पुलिन में परिवर्त्तन होने के कारण हुआ।

मोहें जो दडो में बाढ़ के बार बार आतंक होते रहे। एक दो बार तो नगर-निवासी बाढ की समाप्ति पर लौट भी आए। आखिर वे अपनी विशाल संपत्ति से कैसे एकदम मुख मोड सकते थे। किंतु ऐसे आतकों के बीच कब तक वे रह सकते थे। तंग आकर अंत में उन्होंने इस स्थान से सदैव के लिये बिदा ले ली। उजाड़ तथा दबे हुए मकानों के अंदर पानी के साथ बहकर आई हुई ईंटें तथा मिट्टी अब भी खुदाई करने पर दीखती हैं। इस मिट्टी की तहें दो फीट तक मोटी हैं और अनुमानतः यह मिट्टी एक वर्ष के अंदर भरी होगी†। अनेक प्रमाणों से विदित होता है कि सिंधु नदी अब पश्चिम की ओर बह रही है।

---

* आ० स० रि०, १९३५-३६, पृ० ४०।

† वही, १९२८-२९, पृ० ७२।

बाढ़, वर्षा तथा नदियों से ही इस प्रांत की क्षति नहीं हुई, भूकंपों ने भी इस प्रदेश के वासियों को तंग किया। तूफानी हवाओं के भयकर दौरे भी इस देश के इतिहास में कम नहीं हुए हैं। भूकंप के कई चिह्न तो सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान में भी मिले हैं*। भूकंप से नदियों के पुलिन बदल जाते थे। सन् १६१६ ई० में कच्छ की खाड़ी में भूकंपों से बड़े परिवर्त्तन हुए थे। इसी प्रकार सिंधु-प्रांत में कभी कभी असाधारण वर्षा भी हो जाया करती है। सन् १६०२ ई० में कराची में २४ घंटे के अंदर १२ इंच पानी बरसा।

प्रकृति ने ही सिंधु प्रांत-निवासियों के शांतिमय जीवन में बार बार उथल-पुथल मचाई। खेती के नष्ट होने की भी बार बार आशंका होती थी। जलवायु में भी परिवर्त्तन हो गए थे, सिंधु नदी के डेल्टे में मिट्टी भरती जा रही थी। अच्छे अच्छे बंदरगाह जमीन के अंदर ढकेले जा रहे थे। इन कारणों से उन्होंने धीरे धीरे नगर को छोड़ना प्रारंभ किया। आतंक या भगदड़ के कोई चिह्न मोहेंजो दड़ो तथा हड़प्पा में नहीं मिलते हैं।

एक दिन सूर्य्य, चंद्र, आकाश की तारिकाओं तथा आकाश-गामी पक्षियों ने अचानक देखा होगा—मोहेंजो दड़ो सुनसान पड़ा है। जिन राजपथों पर ठठाके की हँसी, गर्म गर्म बातें, वाद-विवाद तथा आपसी भेंटें हुआ करती थीं वहाँ केवल सायँ सायँ करती हवाएं करुण राग गा रही हैं। जगत में सहस्रों आकांक्षाओं तथा कार्य्यों का कदाचित् ऐसा ही अंत हुआ करता है।

अनेक विद्वानों की धारणा है कि मोहेंजो दड़ो निवासी किसी दूसरे प्रांत में चल दिए थे। और यह बहुत संभव है कि

---

* आ० स० मे० न० ४०, पृ० ३३, १३२, १८६।

ये लोग दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर जाकर बसे हों। मोहें जो दड़ो के बाद के नक्काशीदार काली मिट्टी के बर्तनों की तरह के बर्तन दक्षिण भारत के लौहकालीन स्थानों, विशेप कर बंगलोर के निकट हट्टनहाली नामक स्थान में प्राप्त हुए हैं*। किंतु अभी निश्चित धारणाएँ निर्धारित करने के लिये कुछ और समय तक रुकना होगा।

इस प्रकार इस सभ्यता के केंद्रीय नगर अंधकार में विलीन हुए। ५००० वर्षों के अंदर संसार भी सिंधु सभ्यता को भूलता गया। जीवन के एक कठोर अभिनय की समाप्ति को भी ससार शीघ्रता के साथ भूल जाता है। और ठीक यही बात सिंधु सभ्यता के साथ भी घटित हुई। भूत को लोग शीघ्र भूल गए। अब नए संसार, नई सभ्यताएँ, नए आदर्श आए। उन्हीं पर लोग दृष्टिपात करने लगे।

१८४३ ई० में पोस्टेंज ने लिखा था—"इस प्रांत का भूगोल विचित्र है। कभी औद्योगिक केंद्र का दावा रखनेवाले नगर आज व्यापार के लिये अनुपयुक्त हो गए हैं। अन्य सुविधाएँ भी जाती रही हैं। व्यापार के प्रमुख बंदरगाह भी नष्ट हो गए हैं। जहाँ पहले हरे भरे खेत थे, वहाँ आज रेगिस्तान हैं। आरामतलब सिंधु-प्रांत निवासी नदियों के तट पर रहना पसद करते हैं और फलतः बाढ से गाँव के गाँव बह जाते हैं। सुनसान रात्रि में सिंधु नदी के किनारे की भूमि के गिरने से ऐसा शब्द होता है मानों कहीं दूर कोई आग्नेयास्त्रों का प्रयोग कर रहा हो†"।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ०-वे०, पृ० ५८।

† पोस्टेंज—पर्सनल ऑब्जरवेशन्स ऑन सिंध, पृ० १८।

द्वितीय अध्याय

सिंधु प्रांत-निवासी तथा नगर काल

मोहें जो दड़ो की सभ्यता को नवीन-प्रस्तर-ताम्रयुग की सभ्यता के अंतर्गत रक्खा गया है। इस युग में पत्थर के बने हथियारों के साथ साथ पीतल तथा ताम्र की वस्तुओं का प्रयोग होता था। किंतु मोहें जो दड़ो की सभ्यता मे कई विशेषताएँ भी थीं। नवीन प्रस्तर-ताम्रयुग की अन्य सभ्यताएँ सूती कपड़े तथा कपास से विज्ञ नहीं थीं। फिर उन सभ्यताओं के भवन भी इतने सुंदर ढंग से निर्मित न थे जितने मोहें जो दड़ो मे।

इस नगर की समृद्धि किस काल मे थी और कौन यहाँ के निवासी थे, इस विषय पर समय समय पर अनेक विद्वान् लिखते रहे हैं। वास्तव में सारी समस्या की सुलझावट सिंधु-लिपि के पढ़े जाने पर अवलंबित है। कतिपय विद्वानों ने इसे पढने का प्रयत्न किया भी है, किंतु वे अपने प्रयत्न में असफल से रहे हैं। वास्तव में मोहें जो दड़ो की यह सभ्यता सिंधु प्रांत तक ही सीमित न थी। सर जॉन मार्शल के मतानुसार इस सभ्यता का प्रभाव गगा, यमुना, नर्मदा तथा ताप्ती की घाटी तक पहुँचा था। हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो की खुदाइयों से ज्ञात होता है कि पंजाब में इस सभ्यता का दृढ प्रभाव था। उत्तर पूर्व में इस सभ्यता के अवशेष रूपड़ तक मिले हैं*। डेराजाट, बन्नू तथा झोव की ओर

---

* ऐ० वि० इं० आ० १९३५, पृ० १।

भी यह सभ्यता फैली थी। इधर गगा की घाटी (बक्सर) में भी प्रस्तर-ताम्रयुग की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। श्री माधवस्वरूप वत्स ने काठियावाड़ की लिम्डी स्टेट में भी सिंधु आदर्श की अनेक वस्तुएँ प्राप्त की थीं* ।

पश्चिम में नाल (कलात स्टेट) तथा बलूचिस्तान के पूर्वी भाग में भी सिंधु सभ्यता का अभाव फैला था। उस समय बलूचिस्तान अधिक सभ्य नहीं था और इसलिये वह और सुसस्कृत देशों की सभ्यताओं से ज्ञान तथा प्रकाश पाता था। पश्चिमी बलूचिस्तान, फारस से प्रेरणा लेता था।

मोहें जो दडो में इमारतो की सात तहें निकली हैं। इन इमारतों की दीवारें, सब से ऊपर वाली को छोड़कर, प्रायः एक ही ढंग की हैं। बर्तन, मुद्राएँ आदि में भी कोई परिवर्त्तन नहीं दीख पडता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मोहें जो दडो में बाढ़ के आतक जल्दी-जल्दी होते रहे। यदि बाढ के बीच का समय अधिक होता तो इन वस्तुओं में भी कालानुसार परिवर्त्तन हो जाते। सर जॉन मार्शल मोहें जो दड़ो नगर की आयु कुल ५०० वर्ष मानते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं जान पडता जब कि हम देखते हैं कि तक्षशिला के कई नगर २०० वर्ष के अंदर ऊपर उठे और गिरे। मि० मैके ने मोहें जो दड़ो नगर के काल को पहले निम्नलिखित भागों में बांटा था :—

१—प्रारंभिक युग (ई० पू० ३२५०)
२—मध्य ,, (,, ३०००)
३—अतिम ,, (,, २७५०)

---

* आ० स० रि० १९२९-३०, पृ० १३२।

डा० फ्रैंकफोर्ट को जो मुद्राएँ टेल आज्मर में मिली हैं वे सिंधु सभ्यता की समकालीन हैं। टेल आज्मर मे प्राप्त एक मुद्रा तो निस्संदेह भारतीय है। इसमें अंकित पशु, हाथी, घोड़ा, घड़ियाल, मछली, नीलगाय आदि आदि पशु सुमेर तथा अक्केडियन मुद्राओं में कभी चित्रित नहीं किए गए। यह भारतीय आदर्श की मुद्रा जिस तह पर पाई गई है, उस तह की अन्य वस्तुएँ अकद्ध राज्य (ई० पू० २५००) के लगभग की है। इस नई प्राप्ति के आधार पर मि० मैके अब कहते हैं कि मोहें जो दड़ो का अंतिम युग ई० पू० २५०० के लगभग था*। फिर सर लियो-नार्ड वुल्ली को उर की सबसे नीची सतह पर सिंधु लिपि की एक मुद्रा प्राप्त हुई। किश की अनेक कब्रों में भारतीय आदर्श की कार्निलियन गुरियाँ मिली हैं। उर की नीची सतह की आयु ई० पू० २७५० मानी गई है। इसके अतिरिक्त मोहें जो दड़ो मे नीले मुलायम पत्थर का टुकड़ा प्राप्त हुआ है। इस पर चटाई के रेशों के सदृश जो अलंकरण है वह टेल आज्मर, सूसा तथा किश में प्राप्त बर्त्तनों पर मिलता है। इसमे संदेह नहीं कि मोहें जो दड़ो में यह पत्थर का टुकड़ा बाहर से आया है। टेल आज्मर के बर्त्तनों की आयु ई० पू० २५०० और किश की ई० पू० २८०० के लगभग की हैं। सूसा के बर्त्तनो की आयु विवादग्रस्त है। किंतु संभवत: ये भी ई० पू० २७०० के निकट के होंगे। यदि इसी सन् को हम मोहें जो दड़ो का प्रारंभिक युग मानें तो फिर मोहें जो दड़ो नगर की आयु कुल ३०० वर्ष ही ठहरती है।

सर जॉन मार्शल ने अपनी बृहत् पुस्तक में आर्य्य तथा मोहें जो दड़ो निवासियों की संस्कृति तथा सभ्यता में उचित भिन्नता

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ७।

दिखलाई है। हमें तो सर मार्शल की धारणा कि आर्य भारत में ई० पू० १५०० में आए, सारहीन मालूम होती है। उनसे पहले के कतिपय श्रेष्ठ विद्वान् आर्यों के आगमन-काल को कभी इतने निकट नहीं लाए। श्री लोकमान्य तिलक ने वेदयुग का प्रारभ ई० पू० ६००० से माना था। डा० विंटरनिट्ज का मत है कि वेद का प्रारंभ ई० पू० २००० वर्ष या ई० पू० २५०० वर्ष के लगभग हुआ और इसकी समाप्ति ई० पू० ७५० या ५०० के लगभग हुई*। डा० बूहलर के मतानुसार वेद का युग ई०पू० २००० वर्ष के पहले प्रारभ हो गया था†। अन्य विद्वानों की धारणाओं पर भी विचार कर यह कहा जा सकता है कि वेद के युग का प्रारभ भारत में ई० पू० २५०० के लगभग हो गया था‡।

यदि यही समय हम आर्यों के भारत-आगमन का मान लें तो आर्यों ने मोहें जो दड़ो सभ्यता को पूर्ण यश और ऐश्वर्य्य में देखा होगा। हड़प्पा तो शायद मोहें जो दड़ो के नष्ट होने के कई सौ वर्ष बाद तक भी रहा होगा। इस बात की पुष्टि हड़प्पा के एक शव-स्थान से होती है। इस शव-स्थान को श्री वत्स मोहें जो दड़ो की सभ्यता के बाद का बतलाते हैं। इस शव-स्थान पर प्राप्त मिट्टी के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए हैं। उस समय सिंधु सभ्यता अवनति की ओर चली जा रही थी और लोग सस्ते से सस्ते बर्तन बनाना चाहते थे। यह शव-स्थान भी

---

* विंटरनिट्ज—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द १, पृ० ३१०।

† इंडियन ऐंटिक्वेरी, १८६४, पृ० २४५।

‡ इं० हिं० क्वा०, मार्च १६३२, पृ० १५२।

विचित्र है और इसमें प्राप्त खोपड़ियां भी बाहरी जाति के लोगों की हैं*।

सर जान मार्शल कहते हैं कि मोहें जो दड़ो सभ्यता आर्य्य सभ्यता से भिन्न थी। वे कहते हैं कि "आर्य लोगों को शहरों का ज्ञान न था। वे खेतिहर लोग थे। वे शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे, उन्हें मछली से घृणा थी तथा वे गाय के उपासक थे।" एक लेख में डा० नरेंद्रनाथ लॉ ने मार्शल की धारणा का खडन किया है†। डा० लॉ कहते हैं कि मार्शल का कहना कि वैदिक आर्यों को शहरों का ज्ञान न था, युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। वैदिक आर्य सच-मुच नगरो से परिचित थे। ऋग्वेद मे वर्णित 'पुर' नगर को ही सूचित करते हैं। डा० कीथ का कहना कि 'पुर का अर्थ मिट्टी, लकड़ी तथा पत्थरों का किला है, उचित नहीं है। ऋग्वेद में किले के लिये 'दुर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है‡। एक स्थल पर तो दुर्ग तथा पुर शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं+। अन्य बातों में डा० लॉ की धारणाएँ हमें मान्य नहीं हैं। वास्तव मे 'मान लेने' से ही इतिहास में किसी घटना की सत्यता प्रमाणित नहीं होती।

सर जॉन मार्शल की यह धारणा स्पष्ट नहीं है कि मातृदेवी वैदिक युग में गौण रूप मे थी। ऋग्वेद मे अदिति, पृथ्वी आदि आदि शब्द मातृदेवी को ही सूचित करते हैं। मोहें जो दड़ो मे मातृदेवी के अनेक खिलौने प्राप्त हुए हैं किंतु उनसे मातृदेवी का

---

* वत्स—य० इ०, पृ० २३४-३५।

† इ० हि० का०, मार्च १९३२, पृ० १२१-१६४।

‡ ऋग्वेद, ५, ३४, ७।

+ आ० स० मे०, नं० ३१, पृ० ४।

देवताओं के बीच प्रधान स्थान किसी भाँति सिद्ध नहीं होता। हाँ, यह मानने के लिये हम तैयार हैं कि मोहें जो दड़ो में मातृदेवीकी पूजा का अधिक प्रचलन था।

इस विवाद को एक ओर रखकर यह कहा जा सकता है कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता वास्तव में अनार्य सभ्यता थी। गाय आर्य लोगों की संपत्ति थी, किंतु सिंधु प्रांत की किसी भी मुद्रा पर इसका चित्रण नहीं है। उसी प्रकार घोडे का भी सिंधु प्रांत में अभाव है जिसने कि अश्वमेध यज्ञ के कारण इतनी ख्याति प्राप्त की थी। यदि इस पशु की कुछ हड्डियां प्राप्त भी हुई हैं तो वे बहुत ही कम हैं। फिर आर्य लोग खेतिहर थे किंतु मोहें जो दड़ो निवासी व्यापारी थे।

ऋग्वेद के मंत्रों से उस काल की राजनैतिक परिस्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हम केवल इसमें १० राजाओं के साथ सुदास के युद्ध का वर्णन पाते हैं। यह युद्ध बाद को ब्रह्मावर्त में रहनेवाले भारत तथा उत्तर पश्चिम भाग से आनेवाले लोगों के बीच हुआ था। सुदास भारत लोगों का ही राजा था। इसी लड़ाई के संबंध में कुछ जातियों के नाम भी आए हैं। सुदास ने परुष्णी (रावी) के तट पर १० राजाओं की सम्मिलित सेना को हराया था—

दश राजानः समिता अयज्यवः
सुदासमिंद्रा वरुणान युयुधः

(ऋ० ७, ८८)

ऋग्वेद में असुर जाति का भी यत्र तत्र वर्णन है। प्राग् द्रविड़ काल की असुर नामक जाति अभी तक रांची के जंगलों में पाई जाती है। मुंडा परंपराओं में भी असुर नाम वर्त्तमान

है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि कालांतर में ये लोग भारत के पूर्वी प्रांतो में बस गए थे, किंतु इनका केंद्र सिंधु नदी के मुहाने पर ही रहा।

ऋग्वेद में दास या दस्यु तथा आर्यों के बीच युद्ध का उल्लेख है। दास या दस्यु कहीं पर तो आकाशी जीव तथा कहीं पर साधारण मनुष्य माने गए हैं। आर्यों तथा दस्यु लोगो के बीच इसलिये युद्ध होता था कि दस्यु आर्यों के देवी-देवताओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे और न उनकी अन्य पूजा-सबधी प्रणालियो को ही मानते थे। ये कृष्ण वर्ण के लोग थे। आर्यों ने इन पर विजय प्राप्त की थी*।

श्री दत्त के अनुसार दस्यु लोग द्रविड़ वर्ग के थे; क्योंकि द्रविड़ लोगो का रग काला था तथा नाक चिपटी थी। द्रविण लोग किसी समय पंजाब में रहते रहे होंगे। इसका प्रमाण बलूचिस्तान की ब्राहुई जाति से भी मिलता है†।

इसी प्रकार पणि लोग भी आर्यों से युद्ध करते थे। यास्काचार्य के अनुसार पणि लोग व्यापारी थे‡। ये लोग भी ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा नहीं देते थे और न वैदिक हवनो तथा यज्ञों की महत्ता को ही स्वीकार करते थे।

श्री रामप्रसाद चन्दा के मतानुसार आर्यों ने पणि लोगो पर धावा किया था। ये पणि लोग ही सिधु प्रांत के मूल निवासी थे। मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता एक व्यापारी सभ्यता थी। आर्यों के द्वारा ही यह सभ्यता नष्ट हुई थी+।

---

* कै० हि० इं०, जिल्द १, पृ० ८४-८५।

† दत्त—दि आर्यनाईजेशन ऑव इडिया, पृ० ७७।

‡ यास्काचार्य—निरुक्त, ६, २७।

+ आ० स० मे०, नं० ३१, पृ० ५।

समय समय पर हम देखेंगे कि सुमेर तथा भारतवासियों में अनेक समानताएँ थीं। वूली महोदय के मतानुसार सिंधु तथा सुमेर सभ्यताएँ एक ही मूल से निकली हैं। यह मूल संभवतः फरात तथा सिंधु नदी के बीच में कहीं पर था*। डा० हॉल की धारणा है कि सुमेर तथा द्रविण जातियाँ एक ही थीं। उनका कहना है कि सुमेर-निवासी भारत ही से बाहर गए थे। इसके प्रमाण वे बलूचिस्तान के 'ब्राहुई' लोगों से देते हैं। डा० हॉल यह भी कहते हैं कि बाहर फैलने में ये लोग इलम आदि आदि स्थानों में मुद्राएँ छोड़ते गए†। सुमेरु लोग अवश्य व्यापारी थे। खाफेजी के किले तथा असूर के ईश्तर-मंदिर में सुमेर आदर्श की सैकड़ो वस्तुएँ मिली है। यहाँ पर शायद सुमेरु लोगों का एक उपनिवेश था। सिंधु प्रांत तथा सुमेर के निवासियों की कतिपय बातों में समानता देखकर तो हम मि० चाईल्ड के साथ स्वीकार करते हैं कि सिंधु-प्रांत तथा सुमेरु लोगों का अवश्य जातिगत संबध था‡।

अब हम नरवंश विद्या के आधार पर यहाँ के निवासियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। अब तक मोहें जो दड़ो और हड़प्पा में लगभग २४ खोपड़ियाँ मिली हैं। इनमें चार जाति के लोग हैं:—

(१) काकेशिया या आस्ट्रिया निवासी।

(२) भूमध्यसागर तटवर्ती निवासी।

(३) मंगोलिया या आरमीनिया निवासी।

(४) आल्पस जाति के लोग।

---

* वूली—दि सुमेरियन्स, पृ० ६।

† हौल—ऐंशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० १७३-७४।

‡ चाईल्ड—दि मोस्ट ऐंशेंट ईस्ट, पृ० २११।

डा० वी० एस० गुह इनके विषय में लिखते हैं—"प्रस्तर ताम्र युग में सिंधु नदी की घाटी में छोटे कद, लंबे सिर, पतली तथा ऊँची नाक और लंबे चेहरे के लोग रहते थे, किंतु ये बलवान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त लंबे चेहरेवाली एक और जाति थी। इस जाति के लोग कद में अधिक लंबे थे। ....तीसरी जाति के लोगो के सिर चौड़े होते थे। उनकी नाक पैनी होती थी। इनके सिर का पृष्ठभाग कभी गोल और कभी चिपटा रहता था। ये तीनों जातियाँ अल उवेद तथा किश में भी रहती थीं। इससे जान पडता है कि प्रस्तर ताम्र युग में मेसोपोटेमिया (प्रीसारगोनिद युग) तथा सिंधु प्रांत का जातिगत संबंध था*.. "।

सिंधु प्रांत में बाहर से आने के अनेक रास्ते थे। यहाँ पर अवश्य बाहरी जातियाँ आकर बसी होंगी। हड़प्पा में तो अवश्य ही कुछ जातियाँ बाहर से आकर बसी थीं। मोहें जो दड़ो की आयु सर जान मार्शल ५०० वर्ष तथा मि० मैके ३०० वर्ष मानते हैं। किंतु यह सभ्यता हमारे सम्मुख परिपक्व रूप में आती है। इसका जन्म तो न जाने किस युग में हो गया था। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि मोहें जो दड़ो मे कोई विशेष जाति नहीं रहती थी। भिन्न भिन्न जातियो के लोगों ने बाहर से यहाँ आकर अपनी-अपनी रीति तथा रस्मो का प्रचार किया होगा†। अनेक मिश्रित तत्त्वों के समन्वय से फिर यह सभ्यता बनी होगी। संभवतः आर्यों से पहले ही यहाँ भारतीय सुमेरु, द्रविड़, प्राग्द्रविड़ तथा मंगोलियन संस्कृतियों ने एक सार्वजनिक सभ्यता का निर्माण किया

---

* ऐन आउटलाइन ऑव फील्ड साईनसेज इन इंडिया, पृ० १२७।
† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०६।

था* । किंतु बाहरी तत्त्वों के होते हुए भी सिंधु सभ्यता का विशिष्ट व्यक्तित्व था । सभवत: बाहर से आई हुई जातियों ने शताब्दियो तक, *सिंधु प्राँत में निवास करने के पश्चात् भारतीय* तत्त्वों को मिलाकर एक उच्च संस्कृति की सृष्टि की थी । कराची, कलकत्ता तथा बंबई की तरह मोहें जो दड़ो भी एक व्यापारिक केंद्र था । पश्चिमी तट तथा दक्षिण भारत के साथ सबध होने के कारण यहाँ की सभ्यता मे "आस्ट्रिया एशिया" तत्त्व आया । मंगोलियन लोग शायद उत्तर-पूर्व से तथा चौड़े माथेवाली जाति मध्य एशिया की पहाड़ियों से सिंधु-प्रांत में आई रही होगी† ।

---

* रंगाचार्य—हिस्ट्री ऑव दि प्री-मुसलमान इंडिया, जिल्द १, पृ० १६३ ।

† दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३६ ।

तृतीय अध्याय

(१) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत में किसी समय अच्छी वर्षा होती थी। किसी नगर का सुखी जीवन वहुत कुछ प्राकृतिक सुविधाओं पर ही निर्भर रहता है। लोगों की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं उर्वरा भूमि तथा जल। मोहें जो दड़ो की खुदाई में गेहूँ तथा जौ मिले हैं। इस गेहूँ तथा जौ के दाने खूब बड़े बड़े होते थे। गेहूँ तो उसी जाति के थे जैसे आज-कल भी पंजाब में उगाए जाते हैं किंतु उस तत्त्व और आकार का जौ पजाब मे आजकल नहीं दीख पड़ता। चावल का भी प्रयोग होता रहा होगा। और यह उसी आकार का रहा होगा जिस आकार के चावल आजकल भी लरकना जिले में उगाए जाते हैं। हड़प्पा के लोग फलियाँ, खजूर, तिल तथा तरबूज से भी परचित थे। खजूर के बीज हड़प्पा मे नहीं मिले हैं किंतु इन बीजों का चित्रण यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर दीख पड़ता है। लंबे नींबू की आकृति का एक झुमका मिला है जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ के निवासी लंबे नींबू को भी जानते थे*। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों से सुसज्जित एक मिट्टी के बर्तन पर नारियल तथा अनार जैसा चित्रण है।

पशुओं के दूध और घी से लोग परिचित थे। हरी तरकारी और शाक भाजी का भी लोगों को शौक था। सुंदर मिठाई या

---

* वत्स—य० इ० पृ० ४६८।

रोटी बनाने के ढाँचे खुदाई में मिले हैं। अनाज कूटने के लिये ओखलियाँ तथा गेहूँ आदि पीसने की पट्टियाँ भी प्राप्त हुई हैं। अनाज रखने के लिये गुदामघरों में बड़े बड़े घड़े रक्खे जाते थे। ये घडे खण्डित अवस्था में पाए गए हैं। जिन घडो की ऊँचाई चौड़ाई से कम थी उनके मुह चौड़े होते तथा जो घड़े लंबे होते उनका मुह कम चौड़ा होता था। इन घडो का तला समतल नहीं होता था, और ये किसी आधार पर टिकाए जाते थे। आधार लकडी या पत्थर के बनते रहे होंगे। कुछ छोटे घड़ों के गलों पर छिद्र से हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन छिद्रो में रस्सी डालकर ये लटकाए जाते रहे होंगे या इनके ऊपर ढकने बाँधे जाते रहे होंगे। अनेक घड़ो पर सुंदर फिसलनेवाली पालिश है। इस फिसलनेवाली पालिश पर शायद चूहे नहीं चढ़ सकते थे। गरीब लोग साधारण लिपे हुए गड्ढों में ही अनाज रखते थे*। कुछ प्राप्त खोपड़ियों के दाँत घिसे तथा टूटे मालूम होते हैं। सभवतः पिसाई करते समय आटे में पत्थर के कण आदि मिल जाते थे। रोटिया खाते समय ये कण दातों को हानि पहुँचाते रहे होंगे†।

गाय, शूकर, घड़ियाल, कछुवे, पडूक, भेड़ और मछली का मास मोहें जो दडो तथा हड़प्पा निवासियों के भोजन का मुख्य अग था। घोंघे के अदर के भाग को भी लोग खाते थे। उनके लिये ताजी तथा सूखी मछली उपलब्ध थी। ताजी मछली तो सीधे सिंधु नदी से तथा सूखी मछली समुद्र से आती रही होगी। मास काटने के लिये चकमक पत्थर के औजार बनाए गए थे।

---

* मैके—इ० सि० पृ० १५६।

† मैके—फ़ा० य० मो० पृ० ४६।

ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक भारत में पशु-मांस भोजन का किसी न किसी रूप में अंग रहा है। वैदिक युग के हवनों में तो देवी देवताओं को अनेक प्रकार का मांस भेंट किया जाता था। महाकाव्य काल में भी लोग मांस भक्षण करते थे। महाभारत में एक स्थान पर एक मांस विक्रेता लोगों से कहता है कि वह केवल मास को वेचता है, पशुओं की हत्या और लोग करते हैं*। किंतु विशद मास के भोजन का अंत बौद्ध धर्म स्थापन के साथ ही हो गया था। उधर गीता के प्रसिद्ध श्लोक "अहिसा परमो धर्मः" का भी जनता पर प्रभाव पड़ा। गुप्त काल में फाहियान लिखता है कि जनसमाज में कोई हिसा नहीं करता था। केवल चांडाल ही शिकार खेलते तथा मांस विक्रय करते थे†। सिंधु प्रांत में मनच्छर सरोवर के निकट एक वर्ग के ऐसे लोग रहते थे, जिनका भोजन केवल सरोवर के पशु-पक्षी थे। इस सरोवर के निकट उपजाऊ भूमि नहीं है। इस कारण इधर बसे लोग प्रधान-तया मासाहारी थे। यहां पर लोगों की बस्ती सिंधु-सभ्यता के अंतिम भाग में रही होगी‡।

नागरिक जीवन की उच्च सीढ़ी पर पहुँचकर यह स्वाभाविक था कि वहा के लोग दावत आदि का समय समय पर प्रबंध करते। इस नगर में दावतों के कई उपयुक्त अवसर आया करते रहे होंगे। त्योहार तथा विवाहादि के अवसरों पर हितैषी, मित्र और सबधी आमंत्रित किए जाते रहे होंगे। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्याले, थाली, चम्मच आदि बड़ी संख्या में मिले हैं।

---

* महाभारत, ३, २०७, १० फु०।

† फाहियान—यात्रा-वृत्तात, पृ० ३१५।

‡ आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ६५।

मिट्टी के आधार पर स्थित तश्तरियां भी मिली हैं। इन तश्तरियों पर दावतों के फल रखे जाते होंगे। घोंघे के बडे-बड़े आकार के चम्मच भी मिले हैं। ये चम्मच हवनों या दावतों में दाल वगैरह देने के काम आते थे। कुछ प्याले रखने की बड़ी तश्तरियां भी खुदाई में मिली हैं। इनके कई भाग किए गए हैं। मि० मैके का अनुमान है कि इनमें नाना प्रकार की दाल रक्खी जाती थीं। भारत में आजकल भी ऐसी थालिया होती हैं। जिन पर शाक, भाजी तथा दाल के लिये कटोरियां जुड़ी होती हैं। कुछ छोटे वर्त्तुलाकार, छिद्रवाले बर्तनों से मालूम होता है कि वे हाथ धुलाने के बर्तन थे। घोंघे की तश्तरियां मिट्टी की तश्तरियों से कहीं अधिक हैं। तांबे और पीतल के बर्तनों का प्रयोग भी होता था। गरीब लोग भूमि पर बैठकर और धनी लोग चौकियो पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे।

पशु-पजरो से ज्ञात होता है कि वहा के लोग पशु-पालन के भी शौकीन थे। सिंधु प्रांत में बहुत पहले से पशुओं को पाला जाता था। कहा जाता है जि इस प्रांत से बाहरी देशो तक को पशु भेजे जाते थे। कूबड़दार बैल की उत्पत्ति तो निस्सदेह सिंधु प्रांत में हुई है और यहीं से इस नस्ल के बैल भारत के अन्य भागों में भी गए थे*। अब तक बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता तथा ऊंट के पंजर मोहें जो दडो में मिले हैं। जगली पशुओं में काली बिल्ली हिरन, नील गाय, बदर, भालू तथा खरगोश की हड्डियां मुख्य हैं। कुत्ते का चित्रण तो हम मुद्राओं पर प्राय' देखते हैं। कुछ ईंटों पर भी कुत्ते के पजों के चिह्न हैं। आज दिन भी कुत्ता

---

* इस विषय पर डा० वेणीप्रसाद का लेख जो कलकत्ता रिव्यू जनवरी १९३५ के अक में प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

मनुष्य का परम भक्त और और सगी माना जाता है। हड्डियो से ज्ञात हुआ है कि सिंधु प्रांत मे दो जाति के कुत्ते थे। एक तो उसी जाति का था जिस जाति के साधारण कुत्ते आज कल भी गावों में पाए जाते हैं। दूसरी जाति का कुत्ता बुलडॉग वर्ग का था। इस कुत्ते का रंग भूरा होता था। मिट्टी के एक खिलौने से पता लगता है कि कुत्ते शिकार खेलने मे भी काम आते थे। हड़प्पा से प्राप्त एक माडल कुत्ता अपने दाँतों से खरगोश को पकड़े हुए है। सिकंदर जब भारत में आया था तो राजा सौभूति ने कुत्तों का एक सुदर प्रदशन किया था। इसमे कई जाति के कुत्ते थे*। घोड़े की भी वही जाति थी जो अब तक पश्चिमी सीमा प्रांत मे पाई जाती है। खेद है कि घोड़े का प्रत्यक्ष चित्रण किसी मुद्रा पर नहीं दीख पड़ता। मिट्टी में बना, घोड़े की तरह का एक खिलौना है†। इसके या तो कान थे ही नहीं या वे बहुत छोटे बनाए गए थे। मि० मैके इसे ठीक घोड़े का नमूना नहीं मानते किंतु अन्य विद्वान् इसे घोड़ा ही मानते हैं। सर ऑरियल स्टाईन को भी बलूचिस्तान में कुछ ऐसे खिलौने प्राप्त हुए थे। मद्रास म्यूजियम में रक्खे कुछ खिलौनों से भी इसकी तुलना हो सकती है‡। सिंध के बैल उत्तम जाति के होते थे। उनकी मांस-पेशियाँ कितनी दृढ़ तथा शरीर कितना सुडौल होता था यह मुद्राओं में चित्रित बैलों से ज्ञात होता है। अभी तक सिंध में बहुत अच्छी नस्ल के बैल मिलते हैं। इन शान-

---

* मेगेस्थनीज फ्रैगमेंट्स पृ० ६।

† आ० स० रि० १६२८-२६, पृ० ७४।

‡ फुट—कैटलॉग ऑव दि प्रीहिस्टौरिक एंटिक्विटीज इन दि मद्रास म्यूजियम, पृ० ४८-४६।

दार बैलों की नस्लो की रक्षा तथा पालन की कैसी सुदर व्यवस्था सिधु प्रात मे थी, इसका अनुमान पशुओं के सुदर ढाँचो से किया जा सकता है।

कताई बुनाई के काम के दमकड़े गरीब तथा अमीर दोनों के घरो में मिले हैं। इनमें कुछ तो फियांस (नफीस मिट्टी) के तथा कुछ साधारण मिट्टी के बने हैं। इन दमकड़ों मे दो या तीन तक छिद्र हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मोहें जो दड़ो मे कताई बुनाई का अच्छा प्रचार था। एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु जो मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई है वह सूत के कपड़े का एक टुकड़ा है। सन् १९२६ की खुदाई में रा० ब० (अब स्वर्गीय) श्री दयाराम साहनी को सूत के कपड़े में लिपटी एक कलसी मिली थी। इस कलसी के अदर कई बहुमूल्य गहने थे। इस टुकड़े की परीक्षा बंबई की भारतीय सूत की प्रयोगशाला मे हुई। मि० टर्नर ने इसकी जाच की और प्रमाणित किया कि यह कपड़ा विशुद्ध भारतीय सूत का बना है। स्मरण रहे कि मोहें जो दड़ो की सम-कालीन सभ्यताएँ केवल अतसी (फ्लैक्स) से ही परिचित थीं। इसके बाद मि० मैके को भी सूत के कुछ धागे तथा कपड़े के टुकड़े प्राप्त हुए। ये कपड़े ताम्र की कुछ वस्तुओ पर लपेटे हुए थे। कदाचित् इन वस्तुओं को रक्षा के लिये ही यह कपड़ा बाहर से लपेटा गया था। ये कपड़े भी शुद्ध भारतीय कपास से बने हैं। तीन वर्तनों पर चिपका कपड़ा तो छाल के रेशों से बना है।*
कुछ सूत के टुकड़ों पर मंजीठ का रग भी चढ़ाया गया था।

खेद है कि हड़प्पा की खुदाइयों मे कोई कपड़ा प्राप्त नहीं हुआ है, किंतु वहाँ के निवासी अवश्य बुने कपड़ों का प्रयोग करते

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० ५९१।

थे। बुने कपड़ों छाप की हड़प्पा के कुछ फियांस के बने बर्तनों के अंदर तथा मिट्टी की ईंटों पर दीख पड़ती है*।

वैराट (जयपुर) की खुदाई में फिर रा० ब० साहनी ने एक सूत का कपड़ा प्राप्त किया। इस कपड़े के अदर कुछ सिक्के रक्खे थे। यह कपड़ा ईसा की पहली शताब्दी का है†।

भारत में कपास की कताई-बुनाई का प्रारंभ कब से हुआ, इसका पता नहीं है। कताई-बुनाई क दमकड़ों का वर्णन तो ऋग्वेद काल से लेकर सूत्रकालीन साहित्य तक मिलता है। ऋग्वेद में वर्णित शब्द 'वाय' सूत कातने ही से सबध रखता है। यह ज्ञात होता है कि उस काल में स्त्रियाँ भी सूत कातती थीं। अनेक स्थलों पर उनके लिये 'सिरी' तथा 'वायित्रि' शब्द प्रयुक्त हुए हैं‡। किंतु ऋग्वेद मे ऊन तथा रेशम ही का वर्णन है। ऊन पहले तो बकरी के चर्म से निकाला जाता था, पर पीछे भेड़ की ऊन का व्यवहार होने लगा था। रेशम कई प्रकार का होता था—यथा तारप्य और तृम§। कपास का सर्वप्रथम उल्लेख हम 'अश्वलायन गृह्य सूत्र' में पाते हैं। यूनान, रोम तथा यहूदी लोग कपास को उसके सस्कृत नाम 'कार्पास' से ही जानते थे। इसमें सदेह नहीं कि कपास की सर्वप्रथम उत्पत्ति उत्तर भारत में हुई थी+।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ४६६।

† साहनी—यक्सकावेशन्स ऐट वैराट, पृ० २२।

‡ ऋग्वेद १०, ७१, ६।
शतपथ ब्राह्मण १३, १, २।

§ अथर्ववेद—१८, ५, ३१।
मैत्रिय सहिता—३, ६।

+ जयचंद्र विद्यालंकार—भारतभूमि व उसके निवासी, पृ० ३१।

मोहें जो दड़ो में पहनने का कोई वस्त्र नहीं मिला है। दो चार खंडित मूर्तियों तथा खिलौनों के वेशो से ही हम यहाँ की वेश-भूषा के विषय में थोड़ा बहुत जान सके हैं। कुछ स्त्रियो की मर्तियों पर पखे की तरह का विचित्र शिरोवस्त्र दीख पड़ता है। यह शिरोवस्त्र पीछे से शायद किसी नारे द्वारा वांधा जाता था। इस ढग की शिरोभूषा ससार के अन्य किसी देश में देखने को नहीं मिलती। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है जिनको कि पुरातत्त्व पंडित मातृदेवी की मूर्त्तिया मानते है। कुछ मूर्त्तियों में सिर के दोनों ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं (चित्र स० ५)। शायद इन पर घी, मक्खन आदि रखकर जलाया जाता रहा होगा*। क्योंकि शिरो-वस्त्रों पर कुछ धुएँ की लपटों के चिह्न हैं। मातृदेवियों की मूर्त्तियाँ केवल एक पटका पहने हैं (चित्र स० ४)। उनके शरीर के अन्य भाग नग्न हैं। केवल एक उदाहरण में शरीर पर सघाटी सी है। शायद सघाटियाँ शीत आदि से बचने के लिये पहनी जाती थीं।

पुरुष प्राय. शाल की तरह के कपड़े को शरीर पर लपेटते थे। यह शाल बाएँ कुहने के ऊपर तथा दाएँ हाथ के नीचे होकर शरीर पर पड़ा रहता था। इसके नीचे भी कोई वस्त्र पहना जाता था या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सका है। सभवतः यह शाल किसी पिन से शरीर पर बाँधा जाता था। मेसोपोटेमिया की कई कब्रों में अस्थिपजरों की बाँहों के निकट पिनें प्राप्त हुई थीं। वूली महोदय का कहना है कि उस काल में शरीर का बाहरी वस्त्र सिला नहीं होता था। शरीर पर लपेटकर

---

* मैके—फ़० य० मों०, पृ० २६०।

चि० सं० ६
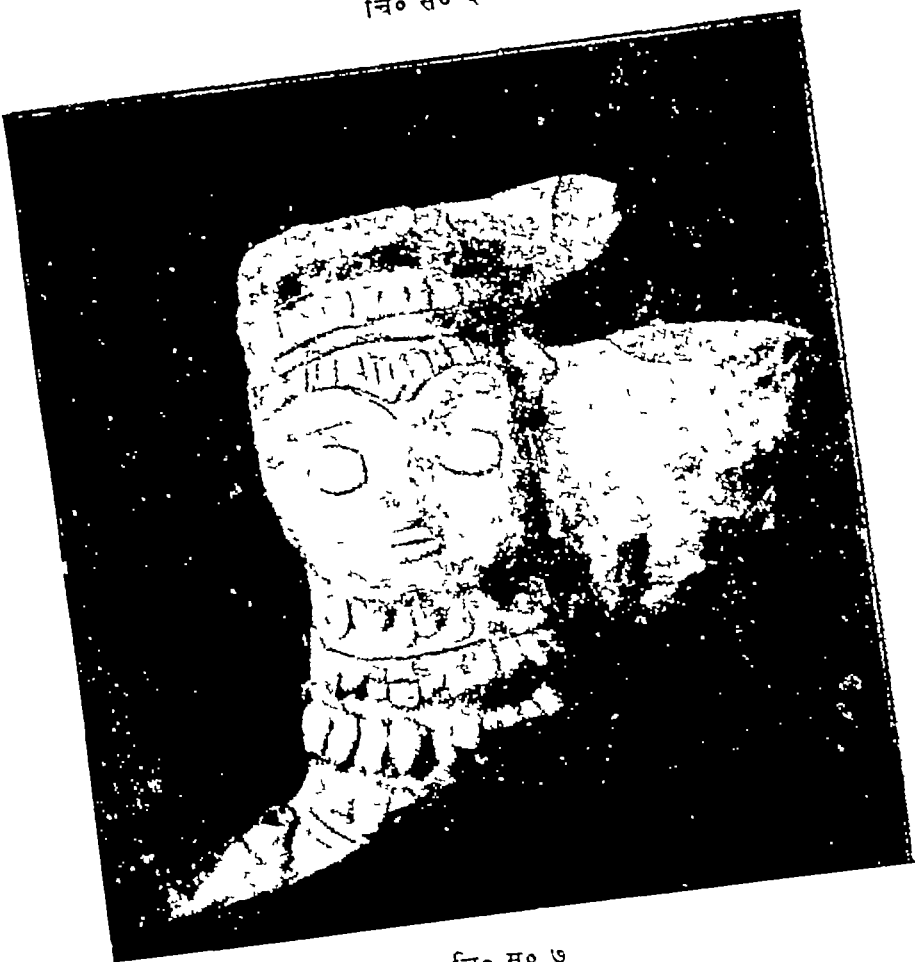
चि० स० ७

प्रीति थी। बाल प्रायः पीछे की ओर ले जाकर जूड़े या चोटी में गूँथे जाते थे। कुछ मूर्तियों में बाल कटे से मालूम देते हैं। शायद उस समय भी 'बान्ड' ढंग के बाल रखने की प्रथा थी। एक दो उदाहरणों में बाल विना गूँथे या विना बाँधे पीछे की ओर छोड़ दिए गए हैं। बालों को बांधने के लिये नारों का प्रयोग होता था। ये नारे प्रायः बुने रहते होंगे क्योंकि कुछ नारों में गांठें दीखती हैं। सोने के बने नारे भी प्रचलित थे। इनका प्रयोग संपन्न घरानों के लोग ही कर सकते रहे होंगे। साधारणतया सोने के नारे १६ इंच लंबे और ½ इंच चौड़े हैं। सिर पर शायद टोपी आदि भी लगाई जाती थी।

केश-रचना की यह सुंदर परंपरा अजंता, इलौरा, बाघ तथा त्रावणकोर के भित्तिचित्रों में भी पाई जाती है। किंतु समयानुसार नवीन और प्राचीन ढंगों में अंतर हो गया है। मोहें जो दड़ो केशकला प्राचीन काल की है, अजंता और इलौरा की नवीन युग की। किंतु दोनों युगों की कलाएँ सौंदर्य्य-प्रेम का परिचय देती हैं।

पुरुष छोटी छोटी दाढ़ियाँ रखते थे। ओठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ रहता था। ऐसी प्रथा अभी तक दाढ़ी रखनेवाले मुसलमानों में भी पाई जाती है। सुमेर के लोग भी ओठ का ऊपरी भाग साफ रखते थे। एक मूर्ति की दाढ़ी इतनी कसी है कि ऐसा मालूम होता है कि उस समय लोग दाढ़ियों पर मरहम या खिजाब लगाते थे। दूसरे उदाहरण में दाढ़ी की नोक ऊपर की ओर घुमा दी गई है। शायद ऐसी दाढ़ियाँ किसी देवता के संप्रदाय से संबंध रखती थीं*। कुछ खिलौनों में सिर मुड़े हुए भी मालूम होते हैं।

---

* मैके—फ़ा० य० मो०, पृ० २६४.

चि० सं० १२
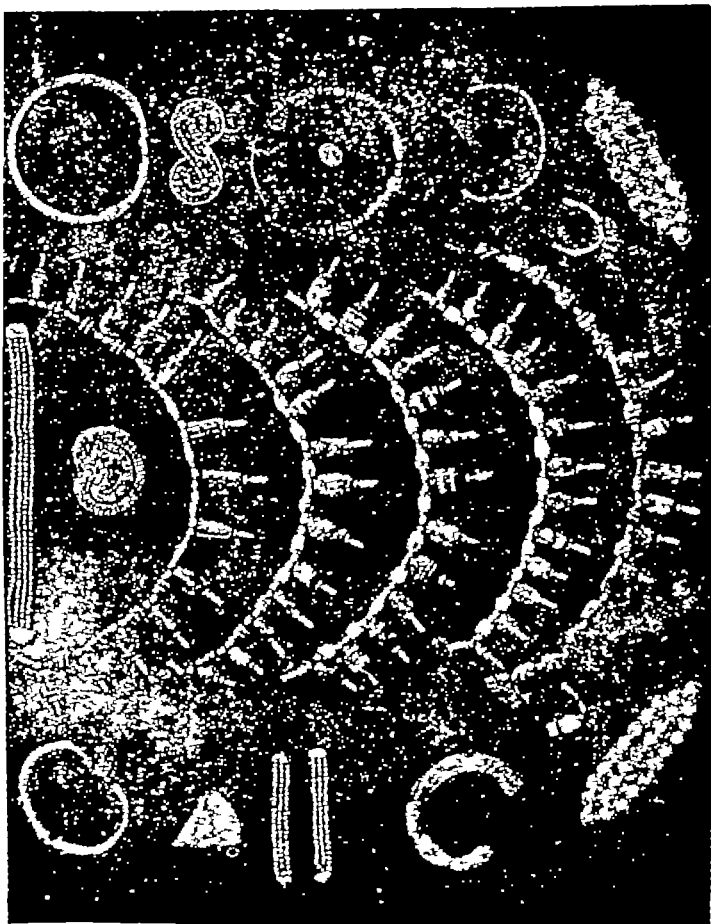
मोहेंजो दड़ो तथा हड़प्पा में उस्तरों की शक्ल के कई औजार मिले हैं। सबसे प्रचलित उस्तरे वे हैं जो दोनों ओर से काम दे सकते थे। बिल्कुल सीधे तथा सिरे पर गोलाकार नमूने के उस्तरे भी व्यवहृत होते थे। सिर मूड़ने के लिये भी शायद ये ही उस्तरे प्रयोग में लाए जाते थे।

मोहेंजो दड़ो में कुछ सुइयाँ भी मिली हैं। कुछ बड़े बड़े तार ऐसे मिले हैं जो शायद सूजे थे जिनसे बोरे या चमड़े की वस्तुएँ सिली जाती थीं। श्री दीक्षित ने तीन स्वर्ण की सुइयाँ भी प्राप्त की थीं। इनमे एक तो केवल सजावट के लिये थी। यह संभव है कि इन मूल्यवान् सुइयों का प्रयोग धनाढ्य घरों की युवतियाँ या राजकुमारियाँ ही करती रही हों। सैकड़ों वर्षों तक भूमि में पड़ी रहने के कारण इन पर बुरी तरह से जंग लग गई है और इस कारण इनके वास्तविक स्वरूप को जानना कठिन हो गया है।

तांबे के बटन भी खुदाई में मिले हैं। इन बटनों का आकार बीच में गुंबद सा है। फियांस के बटन भी चलते थे।

मोहेंजो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के कला-प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषणों से ज्ञात होता है (चित्र सं० १२)। आज तक जितनी भी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे सब आभूषणों से लदी हैं। स्त्रिय के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। पुरुष केवल एक मृण्मूर्त्ति में आभूषण पहिने है। नगर के निम्न वर्ग के लोग मिट्टी या घोंघे के आभूषण पहिनते थे। धनी लोग सोने, हाथीदाँत तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों के बने गहने अपनाते थे। आभूषणों में गले का हार, सिरबंद, बाजूबंद, करधनी, पायजेब आदि मुख्य थे। शायद गले में हँसली भी पहिनी जाती थी। मालाओं के अंत में लगाने के लिये सोने तथा

अन्य धातुओं की पट्टियां बनती थीं। इन पर दो से छ. तक छिद्र बने होते थे। इससे मालूम होता है कि मालाओं की कई लड़ियां होती थीं। कमर में करधनी पहिनने का भी प्रचलन था। वे हारों ही की तरह होती थीं। इनमें अकीक आदि मूल्यवान् पत्थरों का प्रयोग हुआ है। अनेक हार चदन हारों की तरह गले में पहिने जाते थे। कड़े प्रायः धातुओं के बने होते थे। चॉदी और सोने के कुछ कड़े अदर से खाली हैं। इनके अदर शायद लाख की तरह कोई पदार्थ भरा जाता रहा होगा। आज कल ही की तरह उस काल के लोग भी शृगार से विशेष रुचि रखते थे। आभूषणों को रखने के लिये शृगारदान आदि भी रहे होंगे। इन आभूषणों की सुंदरता देखते ही बनती है। गुरियों के काटने और बेधने की अनुपम युक्ति तथा नाना भाति के रगो के मिलान की दृष्टि से पिरोए जाने के ढग से सिंधु प्रांत निवासियो के कलाप्रेम पर सुंदर प्रकाश पड़ता है (चि० स० १०)। सबसे अच्छे आभूषण अभी तक चांदी की कलसी (चिं० सं० २६) में श्री दीक्षित को मिले हैं। कठहारो में सोने की प्रायः चिपटी गुट्टिकाएं व्यवहृत होती थीं। दो साधारण कर्णफूल तथा चादी, ताम्र की कई अँगूठिया खुदाई में निकली हैं। कुछ अँगूठियॉ साधारण तारों को मोड़ कर बनाई गई हैं तथा कुछ के लिये केवल चपटे तार प्रयुक्त हुए हैं। कानों के लटकनो का अभाव दीखता है। सर जान मार्शल की धारणा है कि किसी कारण से मृत्यु के बाद कानों से लटकन निकाल दिए जाते थे*। निकट भविष्य की खुदाइयों में शायद लटकन फिर प्राप्त हो सकें। कानों के कुडल कैसे थे इसका भी पता नहीं। एक प्रकार के कुडल तो गुरियों में छिद्र करके बनाये

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ५२८।
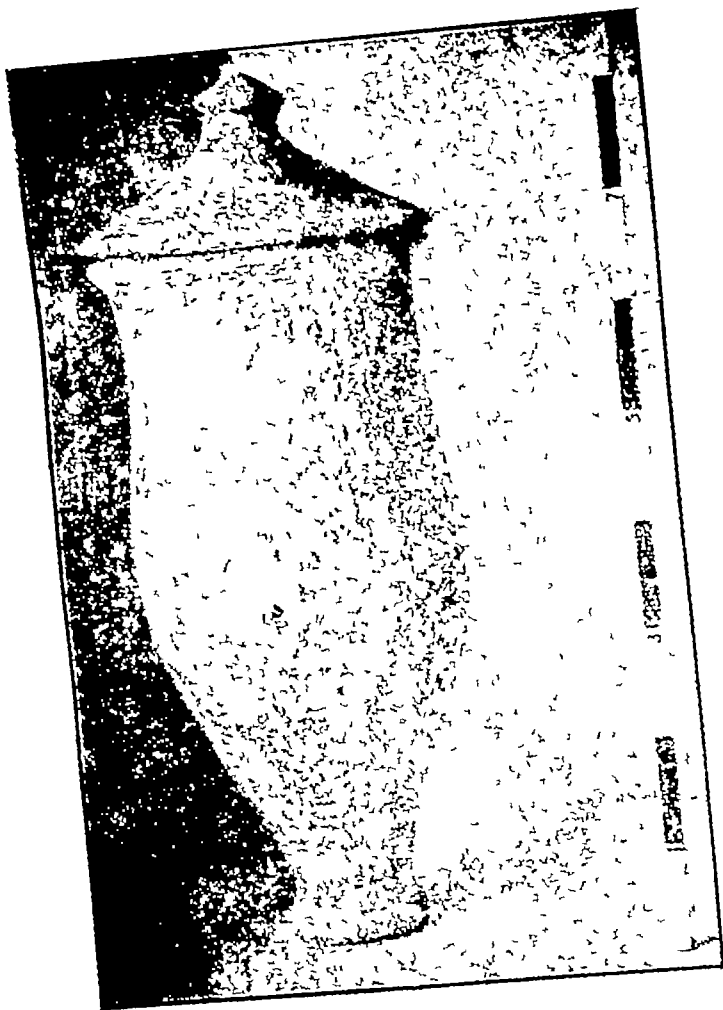
चि० सं० २६

जाते थे। यह भी संभव है कि कुंडल किसी गैर टिकाऊ पदार्थ के बनते थे, या कुंडल यहां के निवासियों को अरुचिकर प्रतीत होते थे। बिना पालिश का एक छल्ला मिला है, जिसे कुंडल माना जा सकता है। स्त्रिया शायद पायजेब, झेवर आदि ढंग के गहनो को पैरों मे पहिनती रहती होंगी। एक पीतल की मूर्ति मे पैर के आभूषण हैं किंतु वे ठीक ठीक नहीं पहिचाने जाते। फियांस की नाक की कीलें तथा फूलियाँ भी संभवत. लोगों को ज्ञात रही हों। किंतु यह अनुमान विवादग्रस्त है; क्योंकि किसी भी मृण्मूर्ति पर नाक का आभूषण नहीं दीख पड़ता है। कई विद्वानो की धारणा है कि नाक का विशेष आभूषण मुसलमानो के आगमन के साथ भारत में आया। इस धारणा मे अवश्य सत्यता है, क्योंकि समस्त प्राचीन सस्कृत-साहित्य की छान-बीन करने पर किसी स्थल पर भी नाक के आभूषण का वर्णन नहीं है। फिर साची, भारूत, अमरावती तथा मथुरा की किसी भी मूर्ति मे, जो कि विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित है, नाक का आभूषण नहीं दीख पड़ता* ।

अनेक मृण्मूर्तियों के हाथ-पैर खंडित हो गए हैं इस कारण हाथ तथा पैरो के आभूषणो के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। मोहें जो दड़ो में सभवतः हाथ में पहिनने के अंतक प्रचलित नहीं थे। अभी तक अतक केवल एक पत्थर की मूर्ति के हाथ पर दीख पड़ा है। किसी धार्मिक संकोच के कारण शायद अंतक किसी विशेष वर्ग के लोग ही पहिन सकते थे।

---

* अल्टेकर—पोजिशन ऑव वोमेन इन हिंदू सिविलाईजेशन पृ० ३६२-६३।

मिट्टी के बने अनेक बाजूबंद भी प्राप्त हुए हैं। इनमें कुछ तो बडी सावधानी के साथ पकाए गए हैं। कुछ बाजूबंदों में लिखा हुआ भी है। शायद ये बाजूबंद करामाती समझे जाते थे। त्रिकोण ढंग का शिरोभूषण, जिसे चौक कहते हैं सिंधु प्रांत में बहुत प्रचलित था। यह आभूषण हड़प्पा की कई आकृतियों में दीख पड़ता है। यह आभूषण फियांस, हाथी-दांत या मिट्टी का बनता था।

बडे हार अधिकतर पीतल या ताम्र के हैं। गरीब लोग मिट्टी ही के हार पहिनकर सतोष कर लेते थे। गुरियो का एक दर्शनीय कठहार प्राप्त हुआ है। कुछ कठहारों पर लिखा हुआ भी है। इन पर शायद निर्माणकर्त्ता या वस्तु-अधिकारी के नाम खुदे हैं।

एक विशेष बात, जो मोहें जो दड़ो तथा हडप्पा में दीख पड़ती है, यह है कि यहां सोने की बनी (एक के अतिरिक्त) अँगूठी नहीं मिली है। अधिकतर अँगूठियाँ ताम्र की हैं और इनकी बनावट बिल्कुल सुमेर जैसी है। अगूठियॉ या तो गोल डण्डियों या तार के छल्लों से बनती थीं। चॉदी की अँगूठियॉ भी बहुत कम थीं। चॉदी की तो सिंधु प्रात में किसी भी प्रकार से कमी नहीं थी, फिर भी आश्चर्य होता है कि इस प्रांत के लोगों ने चॉदी की अँगूठियॉ क्यों इतनी कम बनाईं। शायद इस धातु में अँगूठियो के बनाने का निषेध रहा हो।

कई भूएमूर्त्तियो के गले मे कॉलर के नमूने का कोई आभूषण है। एक मर्त्ति से तो ज्ञात होता है कि यह कॉलर कई छल्लाओं से बना है। यह आभूषण गले पर कसके बॅधा सा रहता है।

---

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ५३६।

फियांस के कई छोटे छोटे वर्त्तन हड़प्पा व मोंहें जो दड़ो में प्राप्त हुए हैं। इनमे पीने का पानी तो अधिक मात्रा में नहीं आ सकता है इसलिये अनुमान किया जाता है कि इन पर शृंगार का कोई पदार्थ रक्खा जाता था। कुछ वर्तनों पर शायद छोटे छोटे गहने भी रखे जाते थे। आजकल भी स्त्रियां छोटे छोटे गहनो को सिंदूर या पिठाई के अदर छोटी कलसियो के अंदर रखती हैं। आज वैज्ञानिक युग मे हम क्रीम, वेसलीन, पाउडर आदि सौंदर्य्य-बर्धक पदार्थों की भरमार देखते हैं। किंतु प्राचीन काल के लोगा में भी सौंदर्य्य बढ़ाने की प्रबल इच्छा थी। हड़प्पा में बोतल के सदृश एक पात्र मिला है। इसके अदर काई काले रग का पदार्थ था। शायद इसमे सुरमा या अन्य ऐसा ही कोई पदार्थ रखा था*। नेत्रों पर लगाने के ऑजनों को रखने के वर्तनो तथा सीकों से मालूम होता है कि स्त्रियां (और शायद पुरुप भी) आंखो में काजल लगाती थीं। कई वर्तनों में लाल महीन मिट्टी, जो कि गेरू की तरह है, मिली है। घोंघे की डिब्बियो में यह पदार्थ रखा जाता था। यह पदार्थ सुमेर, किश, उर तथा नाल में भी प्रचलित था और निस्सदेह प्राचीन काल के पूर्वी देशों में रहनेवाले सभी लोग इसका प्रयोग करते थे। मेसोपोटेमिया मे भी रानी शुब-अब की कब्र पर ऐसे पदार्थों से भरी कई डिब्बियाँ मिली हैं†। उनके अदर रग अब बहुत ठोस हो गए हैं। इनमें पीला, लाल, नीला, हरा तथा काला रंग था। फिर मोहें जो दड़ो मे सीसे का ऐसा द्रव्य भी पाया गया है जो यूनान व चीन में चेहरे पर श्वेत आभा लाने के लिये प्रयुक्त होता था। एक

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३१२।

† वूली—दि रायल सिमेट्री, पृ० २४५।

प्रकार का हरा पदार्थ, जो कि ढेरों के रूप में मोहें जो दड़ो में मिला है, सभवतः नेत्र-सौंदर्य-वर्धक कोई पदार्थ था।

कूओं की बहुतायत म अनुमान किया जाता है कि सिंधु-प्रांत निवासी निजी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे। वे स्नान आदि के लिये नदी के जल का भी प्रयोग करते रहे होंगे। आज दिन स्नान ध्यान की जो विशद प्रथा भारत में है उसका उद्गम संभवतः सिंधु प्रांत से ही हुआ है*।

पकाई हुई सैकड़ों मृण्मूर्त्तिया तथा खिलौने सिंधु प्रांत में मिले हैं। ये बड़े ही कौतूहलजनक हैं। आज तो ये खिलौने गैंती व फावड़ो की ठोकरें खाते फिरते हैं, किंतु एक समय ये खिलौने बच्चों के स्नेह की अनुपम वस्तुए रही होंगी। एक बैल का सा खिलौना है। इसका सिर हिलता है। ऐसे खिलौनों का बहुत प्रचार था। एक हाथी है जिसको दवाने से विचित्र शब्द होता है। एक पशु ऐसा है जिसके सींग तथा सिर तो भेड़ की तरह हैं किंतु शरीर तथा पूंछ चिड़िया जैसी है। इस पशु के दोनों आर छिद्र हैं। इन छिद्रों पर लकड़ी डालकर या तो पहिए जोड़े जाते थे या इन छिद्रों में रस्सी डालकर पशु को झुलाया जाता था†। सीटिया भी असख्य मिली हैं। कई सीटियां मुर्गी तथा नाशपाती की शक्ल की हैं। इनके सिरे व बगल में छिद्र हैं। ऊपर के छेद से बजाने तथा बगल के छिद्र को बद करने पर विचित्र आवाज आती है। कुछ पत्ती पिंजड़े में बद दिखलाए गए हैं। हड़प्पा में प्राप्त कुछ पिजड़े ओखल तथा नाशपाती की शक्ल के हैं। एक पिंजड़े में बड़ा सुदर दृश्य है। इसमें एक पत्ती तो पिंजड़े

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १८।

† मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ५५०।

से बाहर निकल रहा है तथा दूसरा पिंजड़े की बाहरी दीवाल पर बैठा है। ऐसा जान पड़ता है, कुछ पशुओं के धड़ ही बनाए जाते थे। इनके पैर लकड़ी के बनते रहे होंगे। एक पिंजड़े के अंदर बुलबुल जैसा पक्षी है। मिट्टी के झुनझुने भी बच्चों के बीच बहुत प्रचलित थे। इनके अंदर एक से लेकर तीन तक दाने होते थे। ये झुनझुने हाथों से बनते थे। मिट्टी तथा मनुष्य-आकृति के खिलौने भी यत्र तत्र दीख पड़ते हैं। मि० मैके को खुदाई में बौनों के रूप के कई खिलौने मिले थे। ऐसे बौने मिश्र में आमोद-प्रमोद के लिये प्रयोग में आते थे। मोहें जो दड़ो के ये बौने भी किसी खेल में काम आते रहे होंगे।

घोंघे में बने कोई मौडल खिलौने मोहें जो दड़ो या हड़प्पा में नहीं मिले हैं। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण इस वस्तु के खिलौने नहीं बनाए गए।

प्राचीन काल के लोगों ने अपने बच्चों के दिलबहलाव के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर रखी थी। वे लोग सर्वसंपन्न थे, इस कारण वे जीवन की प्रत्येक सुविधा को अपने कुटुंब के लिये प्रस्तुत कर सकते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु प्रांत में खिलौने, आधुनिक चीन तथा जापान की तरह, औद्योगिक दृष्टिकोण से भी बनाए जाते थे।

सिंधु-प्रांत निवासी गाड़ी तथा रथ के प्रयोग से विज्ञ थे। गाडी के खिलौने के कई पहिए हड़प्पा तथा मोहें जो दडो में मिले हैं। यह भी विशेष महत्त्व की बात है कि सभ्यता के इस काल में भी सिंधु-प्रांत-निवासी गाड़ियों से परिचित थे। पशु तथा पक्षियों की आकृति के अनेक रथ खुदाई में निकले हैं। इनके अंदर बिल्कुल खोखला है। साधारणतया रथों पर दो पहिए लगते थे, किंतु कुछ गाड़ियों में चार चार पहिए तक लगे थे। रथों को कौन

जानवर खींचता था, यह ज्ञात नहीं है। घोड़े की थोड़ी हड्डियाँ तो अवश्य प्राप्त हुई हैं, किंतु ये हड्डियाँ बहुत प्राचीन नहीं हैं। अनेक प्रमाणों से कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रांत निवासी घोड़े से अनभिज्ञ थे*। एक खिलौने का पहिया तो रथ ही के साथ जुड़ा हुआ था। दूसरा रथ एक संदूक की तरह है। एक रथ करीब दो इंच ऊँचा है। इसमें गाड़ीवान के बाल पीछे की ओर सुलझे हुए हैं। इसका चेहरा गोल तथा नाक चपटी व ऊँची है।

हड़प्पा में ताम्र की एक छोटी सुंदर गाड़ी मिली है (चि० सं० २५)। इसको खींचनेवाला पशु तथा पहिए खो गए हैं। गाड़ी अगले तथा पिछले भाग में खुली है। इसके ऊपर चँदोवा पड़ा है। आगे से एक ऊँचे स्थान पर गाड़ीवान बैठा है†। हड़प्पा से प्राप्त दूसरे उदाहरण में एक गाड़ी के दोनों ओर के पहिए लकड़ी द्वारा थमे रहते होंगे। इन पहियों के ऊपर सामान रखने का स्थान हैं। इस पर चार छिद्र बने हैं जिन पर लकड़ी गाड़कर चँदोवे के लिये आधार बनते रहे होंगे। गाड़ी के आगे एक छिद्र है जिसमें पशु बांधा जाता होगा‡। चन्हू दड़ो में भी दो मिट्टी की गाड़ियाँ मिली हैं§। इनमें, एकमें गाड़ीवान हाथ में कोड़ा लिए हुए है। दूसरी गाड़ी देहाती गाड़ी सी मालूम देती है। संभवतः प्राचीन काल में गाड़ियां बैलों द्वारा ही खींची जाती थीं।

प्राचीन उर के लोग रथों से अनभिज्ञ नहीं थे। उर में प्राप्त एक पत्थर (जो किसी स्थान पर जड़ा था) पर रथ का चित्रण है।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ५०।

† आ० स० रि० १९२६-२७, पृ० १०५।

‡ वत्स—थ० ह०, पृ० ४५१।

§ आ० स० रि० १९३५-३६, पृ० ४२।

इसको पांच गर्दभ खींच रहे हैं। बनावट से पता लगता है कि असल में रथ लकड़ी के बनते थे। यह रथ अनुपम ढंग का है और ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय उर-निवासियों के लिये रथ कोई नवीन वस्तु नहीं थी*। मि० मैके इस रथ की तुलना सिंधी गाड़ियों से करते हैं। दोनों स्थानों के पहिए लकड़ी के तीन हिस्सों को जोड़कर बनते थे। फिर रथ के अनेक भागों को जोड़ने के ढंगों में भी दोनों देशों में समानताएं दीखती हैं। तृतीय सहस्राब्दी में उर में कम से कम तीन प्रकार के रथ थे†।

मिस्र-देश-निवासियों को भी संभवतः रथ का ज्ञान था। किंतु उन्होंने इसका वास्तविक उपयोग देर में किया। सम्राट् हिकसोस के धावे तक मिस्र की किसी भी वस्तु पर रथ का चित्रण नहीं मिलता है। रथ का प्रयोग वहां द्वितीय या तृतीय सहस्राब्दी के मध्य में हुआ होगा‡।

हड़प्पा में प्राप्त कुछ गर्दभ की हड्डियों से ज्ञात होता है कि यह पशु सिंधु-प्रांत-निवासियों को ज्ञात था। यह पता चलाना वास्तव में कठिन है कि यह पशु बोझा ढोने के काम आता था या नहीं। किंतु यह मान्य बात है कि प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युग में बैलगाड़ियों से ही बोझा ढोने का काम लिया जाता था।

बेबीलोन की सभ्यता के प्रारंभिक काल में वहाँ के निवासी घोड़ों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उस समय वहाँ के रथों को प्रायः गर्दभ ही खींचा करते थे§।

---

* गैड—हिस्ट्री ऑव मॉनूमेंट्स इन उर, पृ० २१-२२।

† ऐंटिक्वेरीज जर्नल १६२६, पृ० २६-२७।

‡ हौल—हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० २१३।

§ किंग—ए हिस्ट्री ऑव बेबिलोनिया पृ० १३६।

अन्य वस्तुओं में मिट्टी की एक मोमवत्ती तथा उसी को रखने का वर्तन है। हड़प्पा की इमारतों में लैम्प रखने के लिये आधार भी बने थे। ये आधार दीवाल पर चुनी गई ईंटों के थे, जो कि दीवाल की सतह से आगे कर दी जाती थीं। ये ईंटें बीच में गहरी कर दी गई हैं। या तो इनमें दीपक रखे जाते थे, या ये स्वयं दीपक का काम देते रहे होंगे। यहाँ कुछ ऐसे भी वर्तन हैं जो कि दीपक का काम देते थे। ये आकार में समचतुरस्र हैं, तथा इनमें एक ओर ऊँची पीठ बनी है। इस पर धुएँ के दाग अभी तक दीख पड़ते हैं*। मिट्टी के बने साधारण चिराग तो वहुत प्रचलित थे।

एक प्रकार के वर्तुलाकार वर्तनों पर कई छिद्र बने हैं। जब मिट्टी गीली रहती थी, उसी समय ये छिद्र लकड़ी से बना दिए जाते थे। ये बर्तन अच्छी तादाद में मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे मिले हैं। कुछ बर्तनों की तली में तो एक ही बड़ा छिद्र है। ये शायद उस काल की वस्तुओं को गरम करने के साधन (हीटर्स) थे। मि० मैके का तो अनुमान है कि इन वर्तनो से दही निकाला जाता था।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के बच्चे आजकल ही की तरह गहने पहिनने का शौक रखते थे। वे आपसी खेल के लिये गुड़ियाँ भी बनाते रहे होंगे किंतु गैरटिकाऊ पदार्थ की होने के कारण वे अब नष्ट हो चुकी हैं।

सिंधु प्रांत के लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी खेलते थे। दो तावीजों में अंकित दृश्यों में एक हरिण तथा जंगली बकरा तीर से मारे जा रहे हैं†। आल्प्स पर्वत पर विचरण करनेवाले

---

* वत्स—य० हृ०, पृ० ३७४।
† मैके—इ० सि०, पृ० १८६।

जंगली बकरे का चित्रण भी मोहें जो दड़ो के कुछ बर्तनों पर है। यह निस्संदेह शिकार का एक पशु था। धनुष उन लोगो का प्रमुख शिकार खेलने का साधन था। चकमक तथा साधारण पत्थर के तीरों के सिरो का सिंधु प्रांत में सर्वथा अभाव है। धातु के बने भी थोड़े से सिर हैं। इनकी आयु भी मोहें दड़ो कालीन नहीं मानी गई है। आजकल ही की तरह मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में गुलेल का प्रचार भी था। इनमें प्रायः दो प्रकार की गोलियाँ (१) गोलाकर तथा (२) अंडाकार व्यवहृत होती थीं। ये गोलियाँ प्रायः हाथ से ही बनाई जाती थीं। इन गोलियों में से कुछ तो धनुषों द्वारा भी फेंकी जाती रही होंगी। इस ढंग की गोलियाँ सुमेर तथा तुर्किस्तान में भी प्रचलित थीं*।

भालों के फल, तलवारें तथा कटारें खुदाई में मिली हैं। मछली ता काँटे द्वारा मारी जाती थी। शैली में ये काँटे संसार के इतिहास मे अपने ढंग के एक ही हैं। इन काँटो के छिद्र तथा बनावट वैसी ही है, जैसी कि आजकल के कांटो में होती है। मछलियां अधिकतर सिंधु नदी ही में मारी जाती रही होंगी। गदाओं के सिरे पत्थर के होते थे। इनका मोहें जो दड़ो में बड़ा प्रचार था। इनमें कुछ तो कंकड़ या चूने के पत्थर तथा कुछ हरे सख्त पत्थर के बनते थे। हड़प्पा में केवल एक धातु का गदा-सिर मिला है। भालों तथा बर्छियों के कुछ सिर बहुत पतले हैं। शायद ये लकड़ी के ऊपर लगाए जाते थे। छोटे छोटे पशुओं के लिये जाल बने रहते होंगे। मोहें जो दड़ो में मिट्टी की, जाल सदृश, कुछ वस्तुएँ मिली हैं।

प्रतिदिवस काम में आनेवाली कितनी ही वस्तुएं खुदाई मे

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ४६६।

अन्य वस्तुओं में मिट्टी की एक मोमबत्ती तथा उसी को रखने का बर्तन है। हड़प्पा की इमारतों में लैम्प रखने के लिये आधार भी बने थे। ये आधार दीवाल पर चुनी गई ईंटों के थे, जो कि दीवाल की सतह से आगे कर दी जाती थीं। ये ईंटें बीच में गहरी कर दी गई हैं। या तो इनमें दीपक रखे जाते थे, या ये स्वयं दीपक का काम देते रहे होंगे। यहाँ कुछ ऐसे भी बर्तन हैं जो कि दीपक का काम देते थे। ये आकार में समचतुरस्र हैं, तथा इनमें एक ओर ऊँची पीठ बनी है। इस पर धुएँ के दाग अभी तक दीख पड़ते हैं*। मिट्टी के बने साधारण चिराग तो बहुत प्रचलित थे।

एक प्रकार के वर्तुलाकार बर्तनों पर कई छिद्र बने हैं। जब मिट्टी गीली रहती थी, उसी समय ये छिद्र लकड़ी से बना दिए जाते थे। ये बर्तन अच्छी तादाद में मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में मिले हैं। कुछ बर्तनों की तली में तो एक ही बड़ा छिद्र है। ये शायद उस काल की वस्तुओं को गरम करने के साधन (हीटर्स) थे। मि० मैके का तो अनुमान है कि इन बर्तनों से दही निकाला जाता था।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के बच्चे आजकल ही की तरह गहने पहिनने का शौक रखते थे। वे आपसी खेल के लिये गुड़ियाँ भी बनाते रहे होंगे किंतु गैरटिकाऊ पदार्थ की होने के कारण वे अब नष्ट हो चुकी हैं।

सिंधु प्रांत के लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी खेलते थे। दो ताबीजों में अंकित दृश्यों में एक हरिण तथा जंगली बकरा तीर से मारे जा रहे हैं†। आल्प्स पर्वत पर विचरण करनेवाले

---

* वत्स—य० इ०, पृ० २७४।
† मैके—इं० सि०, पृ० १८६।

जंगली बकरे का चित्रण भी मोहें जो दड़ो के कुछ बर्तनों पर है। यह निस्संदेह शिकार का एक पशु था। धनुष उन लोगों का प्रमुख शिकार खेलने का साधन था। चकमक तथा साधारण पत्थर के तीरों के सिरों का सिंधु प्रांत में सर्वथा अभाव है। धातु के बने भी थोड़े से सिर हैं। इनकी आयु भी मोहें दड़ो कालीन नहीं मानी गई है। आजकल ही की तरह मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में गुलेल का प्रचार भी था। इनमें प्रायः दो प्रकार की गोलियाँ (१) गोलाकार तथा (२) अंडाकार व्यवहृत होती थीं। ये गोलियाँ प्रायः हाथ से ही बनाई जाती थीं। इन गोलियों में से कुछ तो धनुषों द्वारा भी फेंकी जाती रही होंगी। इस ढंग की गोलियाँ सुमेर तथा तुर्किस्तान में भी प्रचलित थीं*।

भालों के फल, तलवारें तथा कटारें खुदाई में मिली हैं। मछली तो काँटे द्वारा मारी जाती थी। शैली में ये काँटे संसार के इतिहास में अपने ढंग के एक ही हैं। इन काँटों के छिद्र तथा बनावट वैसी ही है, जैसी कि आजकल के कांटों में होती है। मछलियां अधिकतर सिंधु नदी ही में मारी जाती रही होंगी। गदाओं के सिरे पत्थर के होते थे। इनका मोहें जो दड़ो में बड़ा प्रचार था। इनमें कुछ तो कंकड़ या चूने के पत्थर तथा कुछ हरे सख्त पत्थर के बनते थे। हड़प्पा में केवल एक धातु का गदा-सिर मिला है। भालों तथा बर्छियों के कुछ सिर बहुत पतले हैं। शायद ये लकड़ी के ऊपर लगाए जाते थे। छोटे छोटे पशुओं के लिये जाल बने रहते होंगे। मोहें जो दड़ो मे मिट्टी की, जाल सदृश, कुछ वस्तुएँ मिली हैं।

प्रतिदिवस काम में आनेवाली कितनी ही वस्तुएं खुदाई में

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ४६६।

मिली है। इनमे अधिकतर खंडित अवस्था में हैं। पदार्थों को भूनने की चोंट सहित एक तश्तरी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि समस्त सिंधु प्रांत में चोंट सहित यह प्रथम वस्तु पाई गई है। प्याले की शक्ल के भी अनेक वर्तन थे। ये या तो दीपक, या जल पीने के प्याले थे। पत्थर के वहुत कम वर्तन मोहें जो दड़ो में थे। जो कुछ प्राप्त हुए भी हैं वे अलवास्टर मे वने हैं। यहॉ के निवासी गुरियों के लिये तो सख्त से सख्त पत्थर काट सकते थे कितु किसी कारण से वे वर्तनो के लिये पत्थर नहीं काट सके। पत्थर के वर्तन अति साधारण है। उनमे न शिल्प है और न कौशल। भूरे तथा लाल चूने के पत्थर की दो सुदर तश्तरियॉ हैं। इनमें अवश्य कुछ कुशलता दिखलाई गई है। वर्तनों के अदर किसी वर्मे की तरह के औजार से कोर लगाया जाता था। पत्थर की दो विचित्र सदूकचियॉ भी मोहे जो दड़ो में मिली हैं। एक संदूकची के अदर तो चार खाने वनाए गए हैं। शायद इनके अदर नाना भाति के सौंदर्यवर्द्धक पदार्थ रखे जाते थे। यह भी संभव है कि इन खानो मे इत्र रखा जाता रहा हो। दूसरी सदूकची के वाहर से अच्छी नक्काशी की गई है।

कई सिलें तथा लोढ़े भी मोहें जो दड़ो मे मिले हैं। सिल के वीच अधिक घिसा होने के कारण जान पड़ता है कि उनसे प्रति-दिवस काम लिया जाता था। सिलें प्रायः भूमि पर जड़ी रहती होंगी, क्योंकि इनके तले कुडौल वने हैं। कुछ साधारण तख्तियॉ भी सिल का काम देती रही होंगी। इनमें से कुछ तख्तियॉ पीले स्लेटी पत्थर की हैं। इन पर पालिश तथा अन्य रंग आदि पीसे जाते रहे होगे।

हडप्पा तथा मोहें जो दड़ो में गेहूँ प्राप्त हुआ है। किंतु समस्त खुदाइयों में कहीं भी पीसने की चक्कियॉ प्राप्त नहीं हुई हैं।

संभवतः उस काल में गेहुँ कूटकर फिर सिलपर मे पीसा जाता रहा हो।

संभवतः सिंधु-प्रांत-निवासी चक्कल के प्रयोग से भी परिचित थे। यहां अनेक प्रकार के ढाचे मिले हैं, जिन पर कि रोटियां तथा मिठाइयां आदि बनती रही होंगी। ऐसे ढांचो के बनाने में बड़ी सावधानी से काम लिया गया है।

धातु के बने थोड़े से बर्तन मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा में एक सु दर तांबे का घड़ा प्राप्त हुआ है। इसके ऊपर ढकने के लिये एक तश्तरी थी जो कि घड़े के साथ चिपक गई थी। इस घड़े के अंदर बहुत से बर्तन, औजार तथा आभूषण थे। यह घड़ा दो भागों को जोड़कर बना था*†। धातुओं के बर्तनों की कमी का एक कारण यह है कि नगर को छोड़ते समय बहुत से लोग बर्तनों को अपने ही साथ ले गए। धातु सरलता से उपलब्ध नहीं हो सकती थी, इसलिये नगर-निवासी इस कठिनता से प्राप्त धातु की वस्तुओं को छोड़ना नहीं चाहते थे।

कई मकानों के फर्शों के नीचे औजारो तथा हथियारों के समूह मिले हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी भावी आक्रमण की आशका से लोगो ने जल्दी-जल्दी ये वस्तुएं गाड़ दी थीं। किंतु यह भी सभव है कि किसी महामारी के भय से लोगो ने कुछ दिनों तक बाहर रहने का इरादा किया हो। चोरी के डर से ही उन्होंने बर्तन भूमि के नीचे छिपाएं, किंतु किसी कारण से वे फिर इन वस्तुओं को निकालने के लिये न लौट सकें।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ८५।

† मैके—फ़० य० मो०, पृ० ४४८।

अन्य वस्तुओं में आरियाँ, तलवारें आदि हैं। बेंट के लिए छिद्रवाली एक गेंती मोहें जो दड़ो में मिली है। मोहें जो दड़ो में छिद्रवाला यह पहिला हथियार है। मि० मैके तो कहते हैं कि यह गेंती कुषाण-कालीन है। किंतु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी गेंतियों का चित्रण प्रायः मिट्टी के बर्तनों पर भी दीख पड़ता है। सिंधु-प्रांत की आरियाँ सुमेर तथा इलम की आरियों से उत्कृष्ट तथा भव्य थीं। पाठक यहाँ इस बात का स्मरण रखेंगे कि प्राचीन देशों की सभ्यताओं में दाँतवाले बहुत ही कम औजार व्यवहृत हुए हैं। पीतल की एक १६½ इंच लंबी आरी में नीचे की ओर तीन छिद्र हैं। इन छिद्रों पर कीलों द्वारा बेंट जड़ा रहता होगा। बहुत सी छेनियाँ भी प्राप्त हुई हैं। ये अधिकतर ताँबे तथा पीतल की बनी हैं। इनमें कुछ तो सीधी डंडे के आकार की तथा कुछ चौकोर हैं। दोनों प्रकार की छेनियों के मुख पैने होते थे। दरातियों तथा हँसियों की तरह के भी कुछ औजार हैं, किंतु वे टूटी फूटी अवस्था में हैं इसलिय उनके ठीक स्वरूप को पहिचानने में कठिनाई होती है। ताँबे की दो तलवारें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें एक की लंबाई १८½ इंच है। मजबूती के लिये हथियार को एक ओर बीच में मोटा कर दिया गया है। ऐसी ही एक तलवार पैलेस्टाइन में भी मिली है। कुछ हथियारों पर चित्रलिपि सी है। इस वर्ग के हथियार मोहें जो दड़ो में बहुत प्रचलित थे। यह अंकन शायद वस्तुओं की संख्या सूचित करता है। यह भी संभव है कि ये वस्तुएँ किसी नागरिक संस्था या मंदिर की निजी संपत्ति रही होंॐ। कभी कभी कटारों तथा चाकुओं में भेद दिखलाना कठिन हो जाता है, क्योंकि इनकी बनावट में विशेष

ॐ मैके—इं० सिं०, पृ० १३१।

अंतर नहीं दीख पड़ता। मोहें जो दड़ो में त्रिकोण आकृति के भी दो चाकू मिले हैं। इन चाकुओं की नोकें नीचे की ओर घुमाई हुई हैं।

पशुओं और पक्षियों को लड़ाना सिंधु-प्रांत निवासियों के आमोद-प्रमोद का एक अंग था। एक मुद्रा में दो जंगली मुर्गों के लड़ने का सुंदर दृश्य है। इसके अतिरिक्त बाघ और अन्य पशुओं की लड़ाइयों के चित्रण भी यत्र तत्र देखने को मिल जाते हैं।

पशु पक्षी चिरकाल से मनुष्य की क्रीड़ा के साधन रहे हैं। समय समय पर उन्होंने विरही तथा दुखी जनों को सांत्वनाएँ प्रदान कीं, तथा सुखी लोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ प्रस्तुत कीं। वास्तव में समस्त संस्कृत साहित्य पशु-पक्षियों की क्रीड़ाओं से भरा पड़ा है। ऐसे मनो-विनोद का बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन बाण भट्ट की कादंबरी में मिलता है*। मृच्छकटिक में भी शूद्रक ने ऐसे अनेक पालतू पक्षियों का उल्लेख किया है जो क्रीड़ा के प्रमुख साधन थे†।

महाभारत के एक श्लोक में एक पक्षी एक मनुष्य से कहता है कि मनुष्य तथा पक्षियों में केवल दो प्रकार के संबंध (भक्षण और क्रीड़ा) हैं‡—

मक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबंधादृते क्षमः॥

---

* कादम्बरी (नि० सा० प्रे०), पृ० १७३।

† पठति शुकः, कुरकुरायते मदनसारिका, योध्यन्ते लावकाः, प्रष्यन्ते पञ्जरकपोताः।—मृच्छकटिक, ४।

‡ महाभारत, शांति पर्व १३९, ६०।

फलकों पर खेले जानेवाले खेल सिंधु-प्रांत निवासियों को ज्ञात थे। चौपड़, पासा तथा शतरंज भी शायद लोग खेलते रहे हों। पांसे की तरह कुछ गुट्टियों पर १, २, ३ सख्याएँ अंकित हैं। कुछ गोटों में चारों ओर ऊपर-नीचे जानेवाली रेखाएँ भी अंकित हैं। पाँसे वर्त्तुलाकार हैं। इनके अतिरिक्त मिट्टी, फियांस तथा अन्य मूल्यवान् पत्थरों के बने सवार भी हैं। इनको लोग प्रायः चौकोर तख्तियों पर खेलते रहे होंगे। उर की खुदाई मे भी कुछ खेलो के लिये बने लकडी के फलकों सी वस्तुएँ मिली हैं। मोहें जो दड़ो में तीन भागों में विभाजित एक चौकोर ईंट का टुकडा मिला है। यह टुकड़ा कहीं फर्श पर जडा रहा होगा। अवकाश पाकर लोग आंगन में ही बैठकर पांसे आदि खेलते रहे होंगे*। घन की शैली के पासे सभी तहों पर प्राप्त हुए हैं, किंतु पांसे अधिक प्रचलित थे। हाथीदांत के बने पांसों की रूपरेखा बड़ी मनोहर है।

पाँसे हड़प्पा में भी बहुत प्रचलित थे। यहां अधिकतर फियांस और पत्थर के बने पाँसे थे†। मोहें जो दड़ो में पांसे अधिकतर मिट्टी के बने थे। न जाने किन कारणों से मोहें जो दड़ो में फियांस के पांसे नहीं बनाए जाते थे।

ऋग्वेद युग में भी जुआ खेलने की प्रथा थी। एक मन्त्र में जुआरी जुए के खेल के आनंद का सुंदर वर्णन करता है—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्य मच्छान् ‡

---

* ऐंटिक्वीटी, दिसम्बर १९३०, पृ० ४२५।

† वत्स० य० ह०, पृ० ४५६।

‡ ऋग्वेद १०, १०-३४।

किंतु बाद में वह अपनी हार का वर्णन बड़े करुणाजनक शब्दों में करता है। जुआरी को वह आदेश देता है कि वह भविष्य में जुआ न खेले तथा खेती की सम्पत्ति पर ही अपने को संतुष्ट रक्खे !

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः *

बौद्ध जातकों से भी ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में भी जुए की प्रथा प्रचलित थी। उस समय जुए में जीतनेवाले व्यक्ति को जीत का कुछ भाग राजकोष में भी देना पड़ता था†। यही बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होती है।

संगमरमर की गोलियां फेंकने का भी मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्रचार था। कुछ गोलियां तो अति कठोर पत्थर की बनी हैं। कीमती और सख्त पत्थरों की गोलियां शायद पानी के साथ किसी सख्त चूर्ण से रगड़ी जाती रही होंगी। इन गोलियों के साथ साथ चांदी तथा सोने की गोलियां भी रखी थीं। संभवतः चांदी तथा सोने की गोलियां सिंधु-प्रांत में अप्राप्य समझी जाती थीं। हड़प्पा से प्राप्त गोलियाँ दर्शनीय हैं। इनमें जो मिट्टी की बनी हैं उन पर तो भिन्न-भिन्न रंगों से पालिश की गई है। संगमरमर तथा पत्थर की गोलियाँ अति साधारण होते हुए भी देखने में बड़ी भव्य हैं। घोंघे की गोलियों पर वृत्तों का चित्रण है। कुछ छोटे कोण के आधार की वस्तुएँ भी मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई हैं। शायद बिलियर्ड की तरह का कोई खेल उस काल में भी प्रचलित रहा हो।

---

* ऋग्वेद १०, ३४, १३।

† रा० डेविड्स—बुद्धिस्ट इंडिया, १९०३, पृ० ७१-७२।

मोहें जो दड़ो में मुद्राएँ बहुत मिली हैं। किंतु इनकी छाप केवल दो चार मिट्टी के बर्तनों पर ही दीख पड़ती है। इन मुद्राओं पर अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए हैं। प्रायः सभी मुद्राएँ अच्छे ढग से किसी औजार द्वारा काटी जाती थीं। इसके बाद छेनी से चित्रण किया जाता था। फिर पालिश करके ये आग में पकाई जाती थीं। गरम होने पर इनका रग श्वेत हो जाता था। इनका असली रंग शायद नीला था, क्योंकि कुल टूटी मुद्राओं के अदर का भाग नीला है*। असली मुद्राए बहुत कम थीं।

तावे की पट्टियां कई आकारों की हैं। इनपर भी अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए हैं। ये शायद तावीज थे। इनमें खुदाई भी गहरी नहीं है। शायद ये पट्टियां कपड़े के अंदर सिली जाती थीं और आजकल की ही तरह गले या हाथ मे बांधी जाती थी। सैकड़ों वर्ष बाद फिर बौद्ध धर्म के अनुयायियों मे भी ऐसे ही तावीज प्रचलित दीख पड़ते हैं। बौद्ध-धर्म की एक प्रकार पट्टियों के अंदर मंत्र भी लिखे जाते थे। बाद मे ये पट्टियां कपड़े में लपेट कर बौद्ध तीर्थ स्थानों मे चढ़ाई जाती थीं†। संभवतः कुछ भिक्षु इन्हें गले या हाथ में भी बांधते थे।

मोहें जो दड़ो में एक ऐसा तावीज भी मिला है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां के निवासी गले में भी तावीज पहिनते थे। एक तावीज, जिसमे न तो कोई खुदान है और न कोई ठप्पे का काम, अवश्य गले में पहिना जाता था। इस तावीज के सिरे पर चार छिद्र बने हैं। इन छिद्रों मे डोरी लगाकर तावीज गले

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३७६।

† हीरानंद शास्त्री—'नालंदा', पृ० ३५।

मे डाला जाता रहा होगा। किंतु इस प्रकार के तावीजों का प्रयोग सीमित था।*

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में कई स्थलों पर तावीजों का उल्लेख किया है—यथा रक्षाकरण्डकम् †, जयश्रियः वलयः‡।

प्राचीन काल के सभी देशो के लोगों का तावीजों मे विश्वास था। किंतु जैसे जैसे मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया, इन तावीजों की महत्ता भी घटती गई। फिर भी तावीजों पर विश्वास अभी संसार से उठा नहीं है। आजदिन भी यूरप, अरब, तथा मिस्र देश के निवासियों का तावीजों पर बड़ा विश्वास है।

सिंधु-प्रांत-निवासियों के बौद्धिक जीवन का कुछ पता नहीं है। उनके यहाँ कौन कौन सी विद्याएँ थीं तथा उनका जीवन दृष्टिकोण किस भाँति का था, इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हमें तब तक रुकना पड़ेगा जब तक कि सिंधु लिपि शुद्ध शुद्ध पढ़ी नहीं जाती। मिट्टी की कुछ पतली तख्तियों से ज्ञात होता है कि ये लिखने की पाटियाँ थीं। इनकी लंबाई ४ से ७ इंच तक है। इनपर शायद किसी तरह की पालिश लगी थी। लिखने के बाद पाटियां धो दी जाती रही होंगी।

यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि प्राचीन भारत में किस प्रकार की पट्टियों पर लिखा जाता था। बौद्ध काल में तो निस्संदेह लकड़ी की पट्टियाँ लिखने के लिये बनाई जाती थीं§।

---

* आ० स० रि० १९३०-३४, पृ० १०८।

† अभिज्ञान शाकुंतल अंक ७।

‡ रघुवंश, १६, ७४।

§ कट्टक जातक, न० १२५।

उधर गांधार शिल्प में अंकित एक मूर्त्ति में भगवान् बुद्ध एक समचतुरस्र लिपि-फलक पर लिखते दिखलाए गए हैं॥ ।

खेती के औजार सिंधु प्रांत में कम मिले हैं। संभवतः भूमि खोदने के बहुत से औजार लकड़ी ही के बनते थे। छिले हुए चकमक पत्थर का एक औजार दोनों ओर ढलुवाँ तथा बीच में ऊँचा है। यह शायद किसी हल की कील थी। वजन में भी यह औजार बहुत भारी है।

इतना सुसंस्कृत जीवन बिताते हुए यहाँ के लोगों के संबंध में यह सोचना स्वाभाविक है कि वे मेज, कुर्सी, पलंग, तख्त आदि से परिचित रहे होंगे। किंतु ये सभी वस्तुएँ लकड़ी की बनी होने के कारण आज इतने युगों के बाद अप्राप्य हो गई हैं। मिट्टी के खिलौने की दो कुर्सियां खुदाई में मिली हैं। एक मुद्रा पर कोई आकृति बैल के पैरोंवाली कुर्सी पर बैठी है। संभवतः इसी नमूने की कुर्सियां उस काल में बनती थीं। इनके अतिरिक्त तिपाइयां तथा तख्त भी सिंधु-प्रांत में बनते थे।

आधुनिक फैशन के बीज मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के बीच उग चुके थे। स्त्रियां बालों पर पिनें लगाती थीं। पुरुष भी संभवतः बालों पर पिन लगाते थे। एक खिलौने पर पुरुष-आकृति बालों पर पिन लगाए हुए है। इन पिनों के सिरों पर कभी कभी पशुओं के सिर आदि बने रहते थे। स्त्री पुरुष दोनों लंबे बाल रखते तथा उन्हें कंघियों द्वारा सँवारते थे। कंघियाँ उस युग में लकड़ी की बनती थीं। हाथीदाँत की भी सुंदर कंघियां प्राप्त हुई हैं। एक कंघी के दोनों ओर सुंदर वृत्त

॥ मजूमदार—ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम जि० २, (गांधार), पृ० २४६-४७ ।

बने हैं। मि० मैके को यह नौ अस्थिपंजरों के बीच मिली थी। मुड़ी हुई कंघियां भी बालों पर लगाई जाती थीं।

हड़प्पा में प्राप्त कुछ खिलौनों के शिरोवस्त्रो पर पुष्प लगे हैं। हैं। कालांतर में यही फैशन शुंगकालीन मृण्मूर्तियों और कुषाण तथा गुप्त कालीन पत्थर की मूर्त्तियों में भी आया। आजकल भी दक्षिण भारत (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में स्त्रिया सिर पर फूल लगाती हैं। कुछ आकृतियो से ज्ञात होता है कि स्त्रियां कभी कभी नुकीली टोपियां भी पहनती थीं। नुकीला भाग सिर की एक ओर लटकता रहता था। ऐसी ही टोपी पुरुष-आकृतियों पर भी मिलती है। किंतु इसमें नुकीला भाग एक ओर सीधा है। एक फीता माथे पर लगाकर यह टोपी गिरने से बचाई जाती थी।

सिंधु-प्रात की स्त्रियो के रहन-सहन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। किंतु यह कहा जा सकता है कि सिंधु प्रांत में पर्दे की प्रथा नहीं थी। मोहे जो दड़ो के किसी भी भवन से यह ज्ञात नहीं होता कि पर्दे के लिये किसी विशेष शैली के भवन बनाए गए थे।

वैदिक युग की सभ्यता से भी कहीं ज्ञात नहीं होता कि स्त्रियो को पर्दे में रखा जाता था। एक मन्त्र मे तो स्पष्ट है कि विवाह के उपरांत वधू का परिचय अतिथि लोगो से कराया जाता है; यथा—

सुमंगलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत्
सौभाग्यमस्यं दत्वायाथास्त विपरेतन*

पतली लकड़ी तथा घास की बुनाई भी सभवतः सिंधु-प्रांत में होती थी। यहाँ के निवासी निजी प्रयोग के लिये टोकरियाँ तथा अन्य वासन इन्हीं चीजों से बनाते होंगे। हड़प्पा में मिट्टी

* ऋ० १०, ८५, ३३

की एक छोटी टोकरी मिली है। समस्त सिंधु-प्रांत में यह अपने ढंग की प्रथम टोकरी है*।

सिंधु-प्रांत-निवासियों का सार्वजनिक जीवन कैसा था यह समस्या अभी अधकार में है। हड़प्पा के कुछ सभाभवनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ के लोग सामूहिक जीवन से परिचित थे और पूजा उपासना के लिये संघ-रूप में एकत्रित भी होते थे। इस प्रकार के कमरे वहुत लवे हैं। और इनमें ईंटें भी ११×५.५×२.५ नाप की प्रयुक्त हुई हैं। कश्यप सहिता में वर्णित अग्नि-वेदी के लिये भी इसी नाप की ईटे वनाई जाती थीं†।

पूजा की कोई मर्त्ति मोहें जो दड़ो मे नहीं पाई गई है। किंतु अनेक मुद्राओं के दृश्यों से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत मे देवपूजा तथा लाक्षणिक पूजा प्रचलित थी। यह अवश्य माना जा सकता है कि मूर्त्तिपूजा किसी विशेष वर्ग के ही लोगो मे प्रचलित थी। मिश्रित सभ्यता के नगरो मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

ऋग्वेद युग में मूर्त्तिपूजा नहीं थी, यद्यपि अनेक विद्वानों ने वैदिक युग में मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व बतलाया है। हवन यज्ञो से सवध रखनेवाले इतने विशद मंत्रों में केवल एक मत्र मे ही मूर्त्ति पूजा का सकेत मिलता है§—

क इम दशाभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनपदथैन मेपुनर्ददत्॥

---

* वत्स—य० ६०, पृ० ४५४।

† आर्य्यन पाथ, जुलाई १६२६, पृ० ३०६-१०।

§ ऋग्वेद, ४, २६, १०।

भारतीय मूर्त्तिकला मोहें जो दड़ो काल के बाद न जाने किन किन परिस्थितियों में रही। आजकल तो हम भारतीय पूजन-मूर्त्ति-कला का जन्म ईसा की पहली शताब्दी से मानते हैं। किंतु दो एक उदाहरणों से जो कि अति संदेहजनक हैं, भारतीय पूजनमूर्त्ति कला का इतिहास ई० पू० ५वीं शताब्दी तक ढकेला गया है। अपने भ्रमण ग्रंथ में हुयेन-सांग लिखता है कि उसने कौशांवी में, बुद्ध भगवान् के जीवनकाल में ही अंकित, चंदन की एक बुद्ध-मूर्त्ति देखी थी*। इसी प्रकार खारवेल के हाथी गुम्फा लेख पर भी कलिंग के एक राजकुमार की लकड़ी में बनी मूर्त्ति का उल्लेख है†।

मोहें जो दड़ो नगर का इतना सुंदर प्रबंध किसी संस्था या समिति के ही द्वारा हो सकता था। मि० मैके का कहना है कि मोहें जो दड़ो एक गवर्नर (प्रतिनिधि) के अधीन था। कुछ प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सुविधा तथा सुचारु प्रबंध के लिये नगर को कई भागों में बांटा गया था। प्रत्येक भाग के लिये एक एक रक्षक नियुक्त रहा करता था। इन रक्षकों के लिये सडकों के कोनों पर मकान बने थे। एक सडक के बीच दीवार बनाकर उसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। इससे नगर के भिन्न-भिन्न भागों में बांटे जाने की पुष्टि हो जाती है। सड़कों पर रोशनी का भी प्रबंध रहता था।

स्थान स्थान पर कूड़ा रखने के लिये पीपों को रखना तथा नालियों को ठीक समय पर साफ करना, मकानों को ठीक स्थानों पर बनवाना, जल की सुन्दर व्यवस्था तथा सड़कों का उचित

---

* बील बुद्धिष्ठ रेकर्ड्स ऑव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० २३५।

† ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द ६, पृ० १७७।

निरीक्षण आदि बातों से ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो में अवश्य कोई जानपद या म्यूनिसिपल बोर्ड था और यही संस्था नगर के स्वास्थ तथा सुभीते के लिये योजनाएँ बनाती थी* । यह बतलाना कठिन है कि शहर में कौन कौन से अफसर थे । किंतु इनमें शायद वे छः मुख्य अधिकारी रहे होंगे जिनका उल्लेख शुक्राचार्य ने शुक्रनीतिसार मे किया है। या इस नगर में नगरपति कौटिल्य-वर्णित "नागरक" रहा हो। सफाई के लिये अवश्य कोई हेल्थ ऑफिसर नियुक्त रहा होगा । नगर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अनेक वैसे ही विधान रहे होंगे जिनका वर्णन धर्मशास्त्रों में प्रायः मिला करता है ।

मिस्टर मैके की धारणा का खंडन मिस्टर हंटर करते हैं । वह कहते हैं कि मोहें जो दड़ो मे राजमहल के सदृश कोई इमारत नहीं। उनकी धारणा है कि मोहें जो दड़ो में कोई राजा नहीं था । वहाँ प्रजातन्त्र सरकार थी। प्रजातन्त्र सभा के सदस्य ही संभवतः शहर का प्रबंध भी करते रहे होंगे† । इस सभा में अनेक राजनीतिक दलों और मतों के अनुयायी तथा प्रतिनिधि रहे होंगे ।

मकानों के पृथक् पृथक् भाग व्यापारिक सभ्यता का आभास देते हैं । मोहें जो दड़ो के एक भवन से मालूम होता है कि इसमें एक बड़ दूकान स्थित थी। इस भवन को कई भागों में बांटा गया था । दूसरी इमारत तो देखने में बिल्कुल अन्न-भंडार की तरह है । बलूचिस्तान जाने के रास्ते की बस्तियों से ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो एक व्यापारी नगर था ।

---

* न्यू रिव्यू—सितम्बर १९३८, पृ० २४१ ।

† हंटर—'स्क्रिप्ट ऑव मोहें जो दड़ो ऐंड हड़प्पा', पृ० १३-१४ ।

फिर एक ही घर में पृथक् पृथक् परिवारों का रहना यह सूचित करता है कि नगर का सामाजिक जीवन भली भांति सुसंगठित था। इससे यह भी मालूम होता है कि वहां के निवासी अधिकतर एक ही धर्म के अनुयायी थे। यदि उनमें कुछ धर्मभेद था भी तो उस भेद का सामाजिक जीवन पर प्रभाव न था।

व्यापार की दशा दिखलानेवाली दूसरी वस्तु* पत्थर के बटखरे हैं। इनके बनाने में बडी चतुरता से काम लिया गया है। सभवतः इन वटखरो की परीक्षा के लिये कोई अफसर नियुक्त था; क्योंकि इन बटखरों की तौल में जरा भी अंतर नहीं है। सब से अधिक बटखरे घन शैली के हैं। किंतु गोल और अन्य आकारों के वटखरे भी बनाए गए थे। एक बटखरे का (जो सिरे पर त्रिकोण है) वजन २५ पौंड है। इसके सिरे पर दो छिद्र हैं। इन छिद्रों में रस्सी डालकर यह बटखरा ऊपर को उठाया जाता रहा होगा†। ये वटखरे कई प्रकार के पत्थरों के बने हैं, एक दो को छोड़कर किसी पर भी चिह्न नहीं दीख पड़ते। छोटे वटखरे जोड़ के (वाइनरी) और वड़े बटखरे दशमलव (डेसिमल) के आधार पर बनाए गए थे।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे अभी तक कोई सिक्के नहीं मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र तथा असीरिया की तरह सिंधु सभ्यता भी सिक्को के प्रयोग से अनभिज्ञ थी।

नापने के लिये शायद पटरियाँ बनाई जाती थीं। एक घोंघे

---

* 'गगा', पुरातत्त्वाक, पृ० ६४।

† मैके—इं० सि०, पृ० १३४।

की पत्ती पर नाप के कुछ चिन्ह बने हैं। ऐसे ही कई टुकडों को जोड़कर पटरी बनाई जाती रही होगी*।

ऐसा जान पडता है कि मोहें जो दडो की स्त्रियाँ चूहो के आतंक से दुखी थीं। इनको पकड़ने के लिये चूहेदानियाँ बनाई जाती थीं। इनके ऊपर तीन चार छिद्र करके उन पर लकडी या लोहे की सींकें डाली जाती थीं। लुढकने के डर से इनका तला समतल बनाया जाता था†। एक व्यापारिक नगर में, जहां सैकडो मन अनाज तथा रासन प्रति दिवस आती रही हो, चूहो का धावा करना स्वाभाविक ही है।

हाथीदात की मछलियों की आकृति की भी कुछ वस्तुएँ मोहें जो दड़ो में मिली हैं। इनमें कोई छिद्र नहीं है इसलिये इन्हें तावीज मानने में शका होती है। अनेक घोघे की सी विचित्र वस्तुए भी प्राप्त हुई हैं। इनका क्या प्रयोग था, यह बतलाना कठिन है। किंतु बहुत सी वस्तुएं लकडी के सामान के जोड़ो पर प्रयुक्त होती रही होंगी। शिमला, काश्मीर तथा अहमदाबाद के लकड़ी के सामानों मे भी जोड़ो पर हाथीदाँत या हड्डियो के टुकड़े अभी तक लगाए जाते हैं।

मुद्राओं पर हाथी का प्रायः चित्रण दीख पड़ता है, और इस चित्रण के साथ तुलना करने पर सिंधु-प्रात में हाथी की हड्डियाँ जो कम प्राप्त हुई हैं, उसमें अवश्य कुछ रहस्य है। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते हैं कि यदि हाथी सिंधु-प्रात में पवित्र माना जाता था, तो इसके मारने का वहाँ पूर्ण निषेध था। जो कुछ हड्डियाँ प्राप्त हुई भी हैं, वे सभवतः उन हाथियों

---

* मैके—इ० सि०, पृ० १३६।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४२७।

के पंजरों से निकाली गई हैं, जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई है। हाथियों की मृत्यु के बाद ही दाँत निकाले जाते होंगे।

भारत में हाथीदाँत के प्रयोग की प्राचीनता प्रसिद्ध है। बौद्ध काल में हाथीदाँत की वस्तुओं का एक सुंदर बाजार बनारस में भी था*। बाद को साँची स्तूप के एक विशाल द्वार को भी विदिशा नगरी के हाथीदाँत के विशेषज्ञों ने बनाया था।†

---

* देखिए—जातक, १, ३२०।

† एपिग्रैफिका इंडिका जि० २, पृ० ६२

चतुर्थ अध्याय

(२) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत निवासियों का जीवन लड़ाई झगड़े का नहीं था। समस्त सिंधु प्रांत की प्राप्त वस्तुओं में आत्मरक्षा के हथियारों की कमी है। जो तलवारें मिली भी हैं उनकी नोकें पैनी नहीं हैं। इससे जान पड़ता है कि वे शरीर को वेधने के काम में नहीं आती थीं। बाणों के सिरे अवश्य पाए गए हैं। यदि आत्मरक्षा के लिये किन्हीं शस्त्रों का प्रयोग होता भी रहा हो तो वे धनुष बाण ही थे। फिर सभवतः अन्य देशों की तरह मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे किलेबंदियाँ भी थीं। नगर की रक्षा के लिये भी उस समय सरकार द्वारा नियुक्त कुछ रक्षक थे। इसके अतिरिक्त हम अनुमान करते हैं कि उस काल के लोग सहनशील तथा उदारचित्त भी थे और एक दूसरे के स्वत्वों का आदर करना जानते थे। इस उदारता का प्रमाण हमे इस बात से मिलता है कि कई मकानों में निजी कुएँ जन साधारण के लिये खोल दिए गए थे। घर की ओर ही केवल एक पतली दीवार पर्दे के लिये कुओं के निकट बना दी जाती थी*। खुदाई में कहीं भी ढाल, कवच तथा शिरस्त्राण प्राप्त नहीं हुए हैं।

मोहें जो दड़ो मे सफाई का सुदर प्रबंध था, किंतु वहाँ के निवासी रोगों से मुक्त नहीं थे। आज कल ही की तरह सिंधु प्रांत-

---

* आ० स० रि० १६३०-३४, पृ० १०३-०४।

निवासियों का यह विश्वास था कि तावीजों या जादू-टोनों के द्वारा भी रोग दूर किए जा सकते हैं। ऋग्वेद युग के लोगों तक में विश्वास था कि कई रोग तावीजों द्वारा दूर किए जा सकते हैं*।

यह बतलाना कठिन है कि मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में चिकित्सालय थे या नहीं। किंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में भी रोगियों की सेवा सुश्रूषा के लिये समुचित व्यवस्था थी। मानव धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध जातकों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में रोगों के उपचार के लिये चिकित्सालयों तथा अन्य प्रबंध थे†‡।

हड़प्पा में धातुओं के बने तीन औजारों का एक गुच्छा मिला है। ये सब छल्ले में बाँधे हुए हैं। इनमे एक चाकू दोनों ओर से काम देने वाला है। शायद यह चीरफाड़ का कोई औजार रहा हो। किंतु इस ढंग के औजार अन्य देशों मे शृंगार विधान के काम आते थे§।

सिंधु प्रांत में औषधियाँ हड्डियों के चूर्ण से बनाई जाती थीं। मोहें जो दड़ो में चार प्रकार के हिरनों—काश्मीरी बारहसिंगा, चीतल, सांभर तथा पारे के सींग प्राप्त हुए हैं। कर्नल सिवेल की धारणा है कि ये सींग इधर उधर से केवल औषधि बनाने के लिये मँगाए जाते थे। प्राचीन काल मे बारहसिंगों के सींगों से नाना प्रकार की औषधियाँ बनाई जाती थीं। इन चार प्रकार के

---

* अथर्ववेद १, १७, १, २२, १ २३, २४।

† मनुस्मृति, पृ० ३६५।

‡ अर्थशास्त्र, ४, प्रथम भाग।

§ वत्स—य० इ०, पृ० १४४।

हिरनों मे केवल पारा ही सिधु प्रांत का निवासी था। पारा आजकल भी सिंधु प्रात मे पाया जाता है। अन्य तीन प्रकार के सींग तो सिधु प्रांत से दूर पाए जाते हैं*। सिंधु प्रांत के ओथ मांजो वूर्थी नामक स्थान मे मिट्टी के वर्तनो पर श्री मजूमदार को कटल मछली के अंदर की हड्डियाँ भी मिली हैं। यह पदार्थ जिसे 'समुद्रफेन' कहा जाता है आयुर्वेद की एक वड़ी गुणदायक औषधि है। डाक्टर वेणीप्रसाद के अनुसार यह औषधि कोष्ठवद्धता, आँख कान, गले तथा चर्म के रोगो के लिये रामवाण औषधि है।

चट्टानों से निकाली जानेवाली शिलाजीत भी मोहें जो दड़ो मे मिली है। आजकल भी पजाव, काश्मीर तथा गढ़वाल के पर्वतो मे से शिलाजीत निकाली जाती है। शिलाजीत के महत्त्व को सर्वप्रथम सिधु प्रांत के निवासियों ने ही जाना होगा और वहीं की परंपरा आजदिन तक भारत मे चली आ रही है।

इसके अतिरिक्त हरिताल का एक टुकड़ा भी हड़प्पा में मिला है। यह पदार्थ या तो जहर या कोई दवा वनाने के काम आता रहा होगा। कभी कभी यह ताम्र के वर्तनो या हथियारो के साफ करने में भी काम आता था†। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पदार्थ का सिंधु प्रांत में वास्तविक प्रयोग क्या था।

महाकवि कालिदास के अनेक नाटको से ज्ञात होता है कि हरिताल से तेल निकाला जाता था। इसके अतिरिक्त माथे पर तिलक या विंदी लगाने के एक पदार्थ में भी हरिताल मिलाया जाता था‡।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २६।

† वत्स—य० ह०, पृ० ८०।

‡ कुमारसभव ६, २३।

यह संभव है कि शारीरिक स्फूर्ति के लिये सिंधु प्रांत निवासी व्यायाम करते थे। हड़प्पा में प्राप्त एक विचित्र आकृति से ज्ञात होता है कि वह व्यायाम कर रही है। इसमें एक नग्न पुरुष खड़ा होकर पीछे की ओर दोनों हाथों को फेंके हुए है*।

यह जानना कठिन है कि वास्तव में सिंधु प्रांत निवासी गणित, ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्र से विज्ञ थे या नहीं। किंतु यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के निवासी मकानों को बनाते समय सदैव सूर्योदय की दिशा का ध्यान रखते थे। वे तारों की गति से भी दिशाओं को निर्धारित करते रहे होंगे। संभवतः उनके वर्षकाल का निर्णय सूर्य की गति से ही होता था। इसी निर्णय के अनुसार सिंधु प्रांत निवासियों को बाढ़ के आने का समय ज्ञात होता था†।

ऋग्वेद युग के लोग भी ज्योतिष तथा नक्षत्र शास्त्र से अभिज्ञ थे। उस काल में लोग तारों की गति से काल-विभाजन का निश्चय करते तथा अपने विभिन्न उत्सवों और त्योहारों के दिनों को नियत करते थे। दक्षिणायन उत्तरायण का उल्लेख भी एक मंत्र में मिलता है‡। वैसे ही निम्नलिखित मंत्र में उनके नक्षत्र-गति-ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है—

सदृशीरद्य सदृशारिदूश्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम,
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः।§

---

* वत्स—म० इ०, पृ० २६५।

† दीक्षित—प्री० सि० इं० वे, पृ० ३०।

‡ ऋग्वेद—१, १६४, १२।

§ ऋग्वेद—१, २३, २६।

हिरनों में केवल पारा ही सिंधु प्रांत का निवासी था। पारा आजकल भी सिंधु प्रांत मे पाया जाता है। अन्य तीन प्रकार के सींग तो सिंधु प्रांत से दूर पाए जाते हैं*। सिंधु प्रांत के ओथ भांजो वूथी नामक स्थान मे मिट्टी के वर्तनो पर श्री मजूमदार को कटल मछली के अंदर की हड्डियाँ भी मिली हैं। यह पदार्थ जिसे 'समुद्रफेन' कहा जाता है आयुर्वेद की एक वड़ी गुणदायक औपधि है। डाक्टर वेणीप्रसाद के अनुसार यह औपधि कोष्ठवद्धता, आँख कान, गले तथा चर्म के रोगों के लिये रामवाण औपधि है।

चट्टानो से निकाली जानेवाली शिलाजीत भी मोहे जो दड़ो मे मिली है। आजकल भी पजाव, काश्मीर तथा गढ़वाल के पर्ववो मे से शिलाजीत निकाली जाती है। शिलाजीत के महत्त्व को सर्वप्रथम सिधु प्रात के निवासियों ने ही जाना होगा और वहीं की परपरा आजदिन तक भारत में चली आ रही है।

इसके अतिरिक्त हरिताल का एक टुकडा भी हड़प्पा मे मिला है। यह पदार्थ या तो जहर या कोई दवा वनाने के काम आता रहा होगा। कभी कभी यह ताम्र के वर्तनो या हथियारों के साफ करने में भी काम आता था†। यह नहीं कहा जा सकत। कि इस पदार्थ का सिंधु प्रात मे वास्तविक प्रयोग क्या था।

महाकवि कालिदास के अनेक नाटको से ज्ञात होता है कि हरिताल से तेल निकाला जाता था। इसके अतिरिक्त माथे पर तिलक या विंदी लगाने के एक पदार्थ में भी हरिताल मिलाया जाता था‡।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २६।

† वत्स—य० इ०, पृ० ८०।

‡ कुमारसभव ६, २३।

यह संभव है कि शारीरिक स्फूर्ति के लिये सिंधु प्रांत निवासी व्यायाम करते थे। हड़प्पा में प्राप्त एक विचित्र आकृति से ज्ञात होता है कि वह व्यायाम कर रही है। इसमें एक नग्न पुरुष खड़ा होकर पीछे की ओर दोनों हाथों को फेंके हुए है*।

यह जानना कठिन है कि वास्तव में सिंधु प्रांत निवासी गणित, ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्र से विज्ञ थे या नहीं। किंतु यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के निवासी मकानो को बनाते समय सदैव सूर्योदय की दिशा का ध्यान रखते थे। वे तारों की गति से भी दिशाओं को निर्धारित करते रहे होंगे। संभवतः उनके वर्षकाल का निर्णय सूर्य की गति से ही होता था। इसी निर्णय के अनुसार सिंधु प्रांत निवासियो को बाढ़ के आने का समय ज्ञात होता था†।

ऋग्वेद युग के लोग भी ज्योतिष तथा नक्षत्र शास्त्र से अभिज्ञ थे। उस काल में लोग तारों की गति से काल-विभाजन का निश्चय करते तथा अपने विभिन्न उत्सवों और त्योहारों के दिनों को नियत करते थे। दक्षिणायन उत्तरायण का उल्लेख भी एक मत्र में मिलता है‡। वैसे ही निम्नलिखित मंत्र में उनके नक्षत्र-गति-ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है—

सहशीरध सहशारिदूश्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम,
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः।§

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २६५।

† दीक्षित—प्री० सि० इ० वे, पृ० ३०।

‡ ऋग्वेद—१, १६४, १२।

§ ऋग्वेद—१, २३, २६।

१९३०-३१ ई० की खुदाई में मि० मैके को फर्शों के नीचे ताँबे के ढेर तथा अन्य कई मूल्यवान वस्तुएँ मिली थीं। शायद किसी भावी आक्रमण की आशंका के कारण लोगों ने जल्दी-जल्दी ये बर्तन गाड़ दिए थे, किंतु द्वंद्व में हत होने के कारण वे इन बर्तनों को फिर न निकाल सके। इधर उधर पड़े हुए अस्थि-पंजरों से भी धावे का आभास होता है। एक कुएँ की सीढ़ी पर दो पंजर पड़े थे। सबसे नीचे की सीढी पर पड़े मनुष्य-पंजर से मालूम होता है कि वह मनुष्य पीछे ढकेला जाकर मरा था*। शरीर से अलग किए गए भी कुछ पंजर मिले हैं। संभवतः शत्रुओं द्वारा ही इनकी मृत्यु हुई थी। डा० गुह के अनुसार कुछ खोपड़ियाँ जली सी मालूम होती हैं। मि० मैके कहते हैं कि खतरे के निकट होने के कारण कुछ शरीर अच्छी तरह नहीं जलाए गए थे। संभवतः जल्दी जल्दी में चिता के लिये लकड़ियों का प्रबंध भी न हो सका था। केवल मृतक संस्कार को पूर्ण करने के लिये ही शरीर को अग्नि में रखना आवश्यक था।

मोहें जो दड़ो निवासियों को सीमाप्रांत की ओर से सदैव धावे की आशंका रहती थी। ऐसा जान पड़ता है कि अंतिम युग में इस नगर पर बलूचिस्तान की ओर से धावा किया गया था। किरथर पर्वत की पहाड़ियाँ मोहें जो दड़ो से कुल ३० मील की दूरी पर हैं। इन पहाड़ियों पर रहने वाली जातियों के लोग शीतकाल या अकाल के समय नीचे तलहटियों की उपजाऊ भूमि में उतरकर लूटपाट मचाते थे। मोहें जो दड़ो के अंतिम युग में बहुत से लोग इन्हीं शत्रुओं द्वारा मारे गए होंगे। धावा

---

* आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ५४-५५।

करने वाले ऐसे लोग रहे होगे जिन्हें मूर्त्तिपूजा से घृणा थी। धावों की आशंका अधिकतर अंतिम युग में रही होगी। इस समय नगर की रक्षा के लिये कोई साधन नहीं थे। प्रारंभिक तथा मध्य युग में मोहें जो दड़ो नगर की रक्षा का सुंदर प्रबंध था*।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि आत्मरक्षा के कोई भी हथियार मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे नहीं मिले हैं। नगर में अंतिम युग में न किलेबंदी थी और न रक्षा की कोई दीवार। श्री दीक्षित का अनुमान मान्य है कि सिंधु सभ्यता के लोप होने का कारण एक यह कमजोरी भी थी। वैसे तो कोई भी सभ्य-समाज या नगर वर्वर जातियों के प्रहारों से नहीं वच सकता है, किंतु जब स्वरक्षा की ओर कोई समाज या नगर ध्यान न देता हो तो शत्रुओं के सम्मुख उसका पुतलियों की तरह उड़ना बिल्कुल स्वाभाविक है। सिंधु प्रांत निवासी किसी प्रकार के युद्ध के योग्य नहीं थे और इसलिये वे शीघ्र ही मजवूत तथा पहाड़ी जातियों के द्वारा दवा दिए गए।

इसके अतिरिक्त सिंधु प्रांत निवासियो की हार का एक यह भी कारण था कि वे बहुत आरामतलब और वेफिक्री का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें भोजन आदि की तो चिंता थी नहीं। अन्य जीवन की सुविधाएं भी जब उन्हें उपलब्ध हो गईं, तो वे बड़े आराम का जीवन बिताने लगे। जब शत्रुओं ने उन पर आक्रमण किया तो वे किसी भी प्रकार से उनके साथ नहीं लड़ सके।

यह जानना आवश्यक है कि मोहें जो दड़ो सदृश नगर के जनसमुदाय में किस किस आ-जीविका और धर्म के लोग रहते

---

* मैके—फ० च० मो०, पृ० ६४७-४८।

थे। अब तक प्राप्त वस्तुओं से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नगर किसी देश की राजधानी था। यह प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र था और यहाँ भिन्न भिन्न आजीविकाओं तथा जातियों के लोग रहते थे। यह माना जा सकता है कि उच्च वर्ग के समाज में पुरोहित, वैद्य या डाक्टर, ज्योतिषी और जादूगर थे और निम्न वर्ग में मछुवे, मल्लाह, कृषक, वणिक, भिश्ती, गाड़ीवान, चरवाहे तथा कुम्हार थे*।

संभवतः उस युग में भी व्यापारियों ने अपने को एक 'गण' या 'श्रेणी' में संगठित कर रक्खा था। इस प्रकार 'गणों' के अधीन रह कर निर्धन मजदूर भी थोड़ा बहुत कमा लेते रहे होंगे। फिर भी यह कहना ही होगा कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता में आर्थिक असमानता और विषमता थी। समाज का एक शोषित अंग भी था जिसकी भित्ति पर उच्च वर्ग स्थित था। यह असमानता भिन्न भिन्न प्रकार के आभूषणों से भी ज्ञात होती है।

मोहें जो दड़ो में उसके यश के दिनों में बड़ी चहलपहल रहती होगी होगी। भिन्न भिन्न रूपों तथा वेश-भूषा के लोग इधर उधर दीख पड़ते रहे होंगे।

खेद है कि मिश्र तथा सुमेर निवासियों की तरह सिंधु प्रांत के निवासियों ने अपने मृतकों के शरीरों को तथा उनके साथ प्रतिदिवस काम में आनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रबंध नहीं किया। प्राचीन मिश्र निवासियों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य या उसका एक भाग जिसको वे लोग 'का' कहते थे, दूसरे संसार में जीवित रहता है। आज उन मीलों तक फैले हुए बालू के मैदानों में स्थित पिरामिडों की ओर

---

* दीक्षित—प्रो० सि० इं० वे०, पृ० ५७-५८।

थे। अब तक प्राप्त वस्तुओं से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नगर किसी देश की राजधानी था। यह प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र था और यहाँ भिन्न भिन्न आजीविकाओं तथा जातियों के लोग रहते थे। यह माना जा सकता है कि उच्च वर्ग के समाज में पुरोहित, वैद्य या डाक्टर, ज्योतिषी और जादूगर थे और निम्न वर्ग में मछुवे, मल्लाह, कृषक, वणिक, भिश्ती, गाडीवान, चरवाहे तथा कुम्हार थे*।

संभवतः उस युग में भी व्यापारियों ने अपने को एक 'गण' या 'श्रेणी' में सगठित कर रक्खा था। इस प्रकार 'गणों' के अधीन रह कर निर्धन मजदूर भी थोड़ा बहुत कमा लेते रहे होंगे। फिर भी यह कहना ही होगा कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता में आर्थिक असमानता और विषमता थी। समाज का एक शोषित अग भी था जिसकी भित्ति पर उच्च वर्ग स्थित था। यह असमानता भिन्न भिन्न प्रकार के आभूषणों से भी ज्ञात होती है।

मोहें जो दड़ो में उसके यश के दिनों में बड़ी चहलपहल रहती होगी होगी। भिन्न भिन्न रूपों तथा वेश-भूषा के लोग इधर उधर दीख पड़ते रहे होंगे।

खेद है कि मिश्र तथा सुमेर निवासियों की तरह सिंधु प्रात के निवासियों ने अपने मृतकों के शरीरों को तथा उनके साथ प्रतिदिवस काम मे आनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रबंध नहीं किया। प्राचीन मिश्र निवासियों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य या उसका एक भाग जिसको वे लोग 'का' कहते थे, दूसरे ससार में जीवित रहता है। आज उन मीलों तक फैले हुए बालू के मैदानों में स्थित पिरामिडों की ओर

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५७-५८।

संसार के पुरातत्त्व-पंडितों की दृष्टि लगी है। इनके अंदर इतनी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं कि पुरातत्वशास्त्री बिना कठिनाई के मिश्र के धार्मिक इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। शायद मोहें जो दड़ो निवासी पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उन के धार्मिक विश्वास इससे बहुत भिन्न थे। जीवन और मृत्यु तक ही वे मनुष्य-जीवन का अभिनय समझते थे*।

मोहें जो दड़ो में अभी तक कोई शव-स्थान नहीं मिला है। इस कारण उन लोगों के शव-संस्कार के विषय में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है। हड़प्पा मे अवश्य एक शव-स्थान मिला है, किंतु सर जॉन मार्शल इसे बहुत बाद का बतलाते हैं (चि० स० १३)। उनके अनुसार मोहें जो दड़ो की शव-संस्कार-प्रणालियाँ तीन प्रकार की थीं—

(१) जिसमें शरीर पूरा दफ़न किया जाता था,

(२) जिसमें हड्डी या शरीर के कुछ भागों को गाड़ा जाता था। और

(३) अस्थि-फूलों को गाड़ने की प्रणाली।

पहली प्रणाली के अंतर्गत इक्कीस पंजर हैं। चौदह पंजर एक कमरे में पाए गए हैं। इन पंजरों के साथ कोई मृतक-पात्र नहीं थे। इनके साथ कई आभूषण थे। मार्शल साहब कहते हैं कि इन लोगों की मृत्यु या तो अकाल, महामारी या अन्य किसी आकस्मिक दुर्घटना से हुई है। मृत्यु के थोड़ी देर बाद ये शरीर दफ़ना दिए गए थे। ये कब्रें उस काल की हैं जब मोहें जो दड़ो नगर अवनति की ओर चल पड़ा था†।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३२।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८१-८२।

संसार के पुरातत्त्व-पंडितों की दृष्टि लगी है। इनके अंदर इतनी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं कि पुरातत्वशास्त्री बिना कठिनाई के मिश्र के धार्मिक इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। शायद मोहें जो दड़ो निवासी पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उन के धार्मिक विश्वास इससे बहुत भिन्न थे। जीवन और मृत्यु तक ही वे मनुष्य-जीवन का अभिनय समझते थे*।

मोहें जो दड़ो में अभी तक कोई शव-स्थान नहीं मिला है। इस कारण उन लोगों के शव-सस्कार के विषय में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है। हड़प्पा में अवश्य एक शव-स्थान मिला है, किंतु सर जॉन मार्शल इसे बहुत बाद का बतलाते हैं (चि० सं० १३)। उनके अनुसार मोहें जो दड़ो की शव-संस्कार-प्रणालियाँ तीन प्रकार की थीं—

(१) जिसमें शरीर पूरा दफ्न किया जाता था,

(२) जिसमें हड्डी या शरीर के कुछ भागों को गाड़ा जाता था। और

(३) अस्थि-फूलों को गाड़ने की प्रणाली।

पहली प्रणाली के अतर्गत इक्कीस पंजर हैं। चौदर पजर एक कमरे में पाए गए हैं। इन पंजरों के साथ कोई मृतक-पात्र नहीं थे। इनके साथ कई आभूषण थे। मार्शल साहब कहते हैं कि इन लोगों की मृत्यु या तो अकाल, महामारी या अन्य किसी आकस्मिक दुर्घटना से हुई है। मृत्यु के थोड़ी देर बाद ये शरीर दफना दिए गए थे। ये कब्रें उस काल की हैं जब मोहें जो दड़ो नगर अवनति की ओर चल पड़ा था†।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३२।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८१-८२।

हड़प्पा में भी पूर्ण शरीरों को दफनाया जाता था। यहाँ की कब्रो में मृतक-पात्र तथा अन्य सामान भी थे।

किंतु यहाँ के मिट्टी के वर्तनो पर की कारीगरी को देखने से पता लगता है कि ये शरीर सिंधु-सभ्यता के समकालीन नहीं हैं।

नाल तथा शाही टंप (बलूचिस्तान) में भी शव-संस्कार की ऐसी प्रथाएँ थीं*। वहाँ कुछ शरीर तो सुंदर बनाई गई कब्रों पर तथा कुछ मिट्टी के साधारण गड्ढो मे रख दिए जाते थे। शाही टप में मृतक का मुँह सदैव उत्तर की ओर किया जाता था। इन कब्रो में सिर तथा पैरो के निकट मिट्टी के वर्तन रखे थे। इन वर्तनों के अदर जली राख तथा भेड, बकरी की हड्डियाँ थीं। बकरी तथा भेड़ की हड्डियाँ हड़प्पा के शव स्थानों में भी मिलती हैं। और वहाँ एक स्थान पर तो एक बकरी का पंजर बिल्कुल मृतक के बराबर पड़ा था। ऋग्वेद के एक मत्र में अग्नि का आह्वान किया जाता है कि वह बकरी का भक्षण करके मृतक शरीर को स्वर्ग ले जाय†। सभवतः यही विश्वास हड़प्पा निवासियों का भी था।

हड़प्पा की खुदाइयो से यह भी ज्ञात होता है कि मृतक शरीर को शवागार में निर्धारित दिशाओं मे अर्थात् उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर रखा जाता था। यहाँ के पाँच उदाहरणो में पैर मोड़ दिए गए थे। किंतु जहाँ पूर्ण शरीर हैं वहाँ पैर बिल्कुल सीधे रखे गए थे। कुछ कब्रो में समाधि वस्तुएँ थीं, किंतु कुछ में तो एक भी मिट्टी का वर्तन नहीं था‡।

---

* आ० स० मे०, न० ३५, पृ० २६।

† वत्स—य० ह०, पृ० २३७।

‡ वही, २२६–२७।

ऋग्वेद काल में भी पूर्ण शरीरो को दफनाने की प्रथा थी* । ऐसी प्रथा शतपथ ब्राह्मण काल तक चलती रही ।

दूसरी प्रणाली में शरीर को मृत्यु के बाद कुछ दिन तक खुले स्थान में छोड़ दिया जाता था । जब पक्षी शरीर के मांस को खा डालते थे, तो बची खुची हड्डियाँ कब्र में रख दी जाती थीं । ऐसा शवागार मोहें जो दड़ो के एक मकान के आँगन में था । इनके साथ साथ कुछ मिट्टी के बर्तन भी थे । किंतु तीन उदाहरणों में एक भी हड्डी नहीं थी† । एक बर्तन में एक टोकरी भर हड्डियों के साथ अनेक समाधि पात्र, खिलौने आदि आदि थे । जिन बर्तनों मे हड्डियाँ नहीं हैं उनके लिये कहा जा सकता है, कि खुले स्थान में छोड़ने से शरीर की हड्डियाँ तक पशुओं ने खा डाली थीं । छोटी हड्डियाँ शायद घड़े के अंदर ही नष्ट हो गई थीं ।

हड़प्पा में भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी । किंतु इस प्रथा का आगमन वहाँ बाद को हुआ । इन हड्डियों के लिये बने घड़ों के अंदर कोई भी छोटे छोटे मिट्टी के बर्तन प्राप्त नहीं हुए हैं । वास्तव में श्री वत्स ने हड़प्पा मे १०० घड़ो में से केवल एक घड़े पर एक छोटा बर्तन पाया था । कुछ घड़ों में खोपड़ियाँ तथा हड्डियाँ हैं । कुछ में केवल हड्डियाँ ही हैं । कुछ घड़ों पर तो एक भी हड्डी नहीं है ।

बिल्कुल ऐसी ही प्रणाली नाल मे भी थी । यहाँ की कब्रों पर तो केवल कुछ हड्डियो के टुकड़े थे । पूर्ण शरीर का पंजर किसी भी कब्र में नहीं पाया गया ।

---

* ऋग्वेद, १०, ११, १८ ।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८२ ।

हड़प्पा मे चौड़े मुँह के कई घड़े मिले हैं। इनमे शायद पूरे पंजर रखे जाते थे। युवक तथा वृद्ध शरीरों के पैंतीस पंजर, छः ऐसे पंजर जिनकी अवस्था अनिश्चित है, और इक्कीस बड़े बच्चों तथा ग्यारह छोटे बच्चों की हड्डिया इन घडों मे थीं। इन घड़ों के इक्कीस उदाहरणों के अंदर ता केवल जमी मिट्टी थी। युवकों तथा वृद्धों के शरीर तो अवश्य ही खुली हवा मे छोड़े गए थे*। बच्चो के शरीरों को शायद बाहर खुले स्थानो में नहीं छोड़ा जाता था।

एक स्थान पर पशुओं तथा मनुष्यो की हड्डियों का समूह पाया गया है। इनमें कई खोपडियॉ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्यो के सिर अलग किए गए थे। ये हड्डियॉ या तो ढेर के रूप में जान बूझ कर रखी गई थीं, या ये अकस्मात् एक दूसरे के ऊपर आ गई हैं। इनके साथ कोई गहने नहीं थे। यह बतलाना कठिन है कि ये दफनाई हड्डियॉ हैं, या किसी महान् आक्रमण से हत लोगों के शरीरों का ढेर हैं। पशुओं तथा समाधि के वर्तनों के साथ होने से यह कहा जा सकता है कि इनका शव-सस्कार अवश्य किया गया था†।

जिन घड़ों पर केवल राख, कोयला तथा हड्डियॉ हैं उनसे ज्ञात होता है कि शरीर को जलाने के बाद ये चीजें घड़ों में रख दी गई थीं। शायद शरीर को बहुत अच्छी तरह से जलाया जाता था और इसलिये अधिकतर हड्डियाँ भी अग्नि की लपटों मे स्वाहा हो जाती थीं। किंतु पंजाब में एक दूसरी प्रणाली प्रचलित थी। पजाब में आज भी यह प्रथा है कि शरीर को

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १२६।

†—वही—पृ० २०२।

जलाने के चौथे दिन बाद चिता से हड्डियाँ इकट्ठी की जाकर धोई जाती हैं। इसके बाद इनका चूर्ण किया जाता है। यह चूर्ण फिर पवित्र नदियों में बहाया जाता है। शायद ऐसी ही कोई प्रथा प्राचीन सिंधु प्रांत में भी रही।

हड़प्पा के कुछ घड़ों पर (जिनके कि २३० उदाहरण प्राप्त हुए हैं) पशु पक्षियों तथा मछलियों की जली राख एवं हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। केवल एक उदाहरण में मनुष्य की एक हड्डी मिली थी। इन घड़ों पर मनुष्य की आकृति तथा पशुओं के खिलौने, आभूषण, गुरियाँ, गाड़ियाँ आदि वस्तुएं थीं। शायद जलाने के बाद कोई भी हड्डी नहीं बचती थी, किंतु फिर भी राख के साथ मृत मनुष्य के लिये घड़ों पर कुछ समाधि वस्तुएँ रख दी जाती थीं*।

बलूचिस्तान के डाबर कोट, पिरयानो घुंडई, मुगल घुंडई तथा सुकटागनडोर नामक स्थानों मे भी हड़प्पा शैली के बड़े बड़े घड़े मिले थे। ये स्थान सिंधु सभ्यता से विशेष प्रभावित हुए थे। इन घड़ों के अंदर भी वैसा ही समाधि का सामान था जैसा कि हड़प्पा के घड़ों पर पाया गया था। कुछ घड़ों में तो मनुष्य की हड्डियाँ थीं। किंतु कुछ में मनुष्य की एक भी हड्डी नहीं थी।

दीवारों के आधार पर ४४ घड़ों का एक समूह भी मिला है। इनमें दो घड़ों के अतिरिक्त सब खंडित अवस्था में हैं। इनमें मनुष्य की कोई हड्डी नहीं थी। शायद इन घड़ों पर केवल हड्डियों का चूर्ण ही रखा जाता था। इनपर पशुओं की हड्डियाँ, खिलौने, जला धान, कोयला, राख आदि वस्तुएँ पाई गई थीं†।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८८।

† वत्स—य० ह०, पृ० १७५।

सर जॉन मार्शल की धारणा है कि सिंधु सभ्यता के यश-काल मे वहाँ शरीर को जलाने की ही प्रथा थी। शरीर को खुला छोड़कर फिर कुछ दिन बाद हड्डियों को उठाकर दफनाने की प्रथा मोहें जो दड़ो में कम थी। किंतु हड़प्पा मे इस ढग की शव-संस्कार प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित थी। हड़प्पा की प्रणाली मोहें जो दडो के बाद की है*।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुर्दों को गाडने और जलाने की विधियाँ ऋग्वेद काल मे भी थीं†। किंतु ये दोनो प्रणालियाँ दो भिन्न भिन्न युगो की थीं‡। कतिपय विद्वानो ने ऋग्वेद के मत्रों को भिन्न भिन्न कालो मे बाँटा है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद को प्राचीन और नवीन भागो मे विभाजित किया है§। वे शव प्रणा-लियाँ भी ऋग्वेद के भिन्न भिन्न कालो मे प्रचलित रही होंगी।

इन शवस्थानो में भिन्न-भिन्न दृश्यो तथा नमूनो से युक्त मिट्टी के बर्तन मिले हैं। इनसे उस काल के लोगो के सौंदर्य-प्रेम पर ही नहीं वरन् उनके गभीर धार्मिक तथा दूसरे जन्म-सबंधी विश्वास और विचारधाराओं पर भी अनूठा प्रकाश पड़ता है।

मोहें जो दड़ो में कौन सी लिपि और भाषा प्रचलित थी, यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है। श्री हंटर और प्रोफेसर लैंग्डन ने मुद्राओं तथा ताबीजों पर खुदे चिह्नों का निरीक्षण किया है। यह पता नहीं कि उस काल में किस वस्तु पर लिखा जाता था। सभव है कि उस समय लकड़ी की तख्तियाँ या पटरियाँ, लिखने के लिये व्यवहृत होती रही हों।

---

* वही—८६।

† मैन इन इंडिया, जिल्द १६, १६३६, पृ० २८५।

‡ मैक्समूलर—ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५७-४८३।

§ 'मैन इन इडिया'—जिल्द १६, १६३६, पृ० २८५।

संसार के प्राचीन देशों की तरह इस लिपि को भी कुछ विद्वान् चित्र-लिपि मानते हैं। यहाँ प्राप्त अनेक मुद्राओं के चिह्न सुमेर और मिस्र के चिह्नों की तरह हैं। मिस्टर हंटर तो यहाँ तक कहते हैं कि सिंधु-लिपि पर आधा प्रभाव मेसोपोटेमिया का और आधा मिस्र का है। सिंधु-लिपि में थोड़े से पशु-पक्षियों के रूप के चिह्नों के अतिरिक्त अन्य बातें परंपरागत सी हैं।

यह सभव है कि ये सभी लिपियो एक ही स्रोत से निकली हों*। किंतु भिन्न-भिन्न देशो में जाकर इनका रूप वदलता गया। आरभ में अनेक देशों की लिपियों में समानता रही होगी, किंतु कुछ ही समय बाद लिपियों में परिवर्तन हो गया। श्री दीक्षित के विचार से सिंधु-लिपि भारत में स्वतंत्र रूप में फली-फूली†।

आश्चर्य होता है कि सुदूर प्रशांत महासागर में स्थित ईस्टर टापू में भी सिंधु-लिपि जैसी लिपि मिली है।

मिस्टर हंटर के अनुसार सिंधु-लिपि सकेतात्मक है और इसकी उत्पत्ति पदार्थ-चित्रों तथा साधारण चित्र-लिपि से हुई है। यह लिपि बाईं ओर से दाईं ओर को पढ़ी जाती थी किंतु कभी कभी यह दाईं से बाईं ओर को भी पढ़ी जाती होगी। इस लिपि की उत्पत्ति तृतीय सहस्राब्दी से बहुत पहले हो गई होगी।

प्रोफेसर लैंग्डन की धारणा है कि ब्राह्मी लिपि सिंधु-लिपि से निकली है। किंतु इन दोनों लिपियों के बीच अवश्य कोई लिपि रही होगी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल तो इनके बीच की लिपि को विक्रम खोल की लिपि मानते हैं।

---

* हंटर 'स्क्रिप्ट ऑव मोहें जो दड़ो एंड हड़प्पा', पृ० ४६।

† दीक्षित प्री० सिं० इ० व०, पृ० ४६।

कुछ विद्वान् इन मुद्राओं में द्राविड़ भाषा के कुछ चिह्न पाते हैं। बलूचिस्तान मे 'ब्राहुई' जाति को पाकर इनका अनुमान है कि द्राविड़ पश्चिम एशिया से यहाँ आकर बसे थे। अनेक पंडित इस धारणा पर आपत्ति करते है। द्राविड़ भाषा का मूल ये लोग दक्षिण भारत मे मानते हैं। ब्राहुई लोगों के विषय में कहा जा सकता है कि ये लोग दक्षिण भारत के समुद्र-तट के पश्चिमी देश के साथ होने वाले व्यापार के सिलसिले मे उत्तर-पश्चिम मे जा बसे हो, और एक द्राविड उपनिवेश सूचित करते हों*। सिधु-प्रांत की लिपि तीन भागो (१) अक्षरो (सिलेब्ल), (२) पदार्थ-चित्रों (आइडियोग्राम) और (३) निर्धारकों (डिटर्मिनेशन्स) में विभाजित रही होगी। प्रत्येक मुद्रा पर इन्हीं में से एक चिह्न रहता था। परंतु कई मुद्राओ पर ये तीनों चिह्न साथ हैं। चिह्नो द्वारा अर्थ को पूरा करने के लिये पदार्थ-चित्रों तथा निर्धारकों से सहायता ली जाती थी। प्रायः सभी चिह्न लिपि के अंत में हैं। जहाँ ऐसे चिह्न मध्य में हैं वहाँ शब्द विभाजन हो जाता है कुछ अंशो में तो चिह्न स्वयं बोधक हैं और कुछ मे वे पदार्थ के अर्थ के बोधक हैं।

इन मुद्राओ पर क्या लिखा है, यह ज्ञात नहीं हैं। संभवतः इनपर किसी के नाम लिखे हैं। संभव है, कुछ मुद्राएँ व्यापार के गट्ठों पर लगी मिट्टी की पट्टियों पर छापी जाती रही हों। एक गट्ठे पर तो वास्तविक मुद्रा मिट्टी की मुद्रा के साथ चिपकी मिली थी

भारत के प्राचीनतम सिक्कों—कार्षापणों—पर भी सिंधु-लिपि जैसे चिह्न अंकित हैं। ऐसा विदित होता है कि प्राचीन भारत की

---

* जयचंद्र विद्यालंकार—'भारतभूमि और उसके निवासी,' पृ० २४०।

परंपरा ही के कारण ये चिह्न इन सिक्कों में आए हैं*। कतिपय विद्वानों जैसे जेम्स प्रिसेप तथा विल्सन ने कहा है कि भारत में कार्षापण सिक्के या सिक्कों का प्रचलन यहाँ वाख्त्री यूनियनों के द्वारा हुआ। किंतु मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की मुद्राओं के कुछ चिह्नों तथा कार्षापण सिक्कों के चिह्नों की समानता देखकर ये धारणाएँ सारहीन ठहरती हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मूर्तिकला के जो उदाहरण भारत में प्राप्त हुए हैं†, उनसे भी ज्ञात होता है कि इस शताब्दी में लोग कार्षापण सिक्कों से परिचित थे। कनिंघम ने इस संबंध में अनेक महत्त्व की तथा पांडित्यपूर्ण धारणाएँ पेश की हैं‡। वे पठनीय हैं। इस प्रकार सिंधु प्रांत के कुछ चिह्नों की परंपरा बाद को कार्षापण सिक्कों में भी आई।

यहाँ पर यह बतलाना भी उचित है कि इस प्रकार के अनेक चिह्न असीरिया, मिस्र तथा स्कॉटलैंड में भी चित्रित किए गए थे। एक विद्वत्तापूर्ण लेख में मि० थियोवाल्ड ने ऐसे चिह्नों का प्रागैतिहासिक उद्गम घोषित किया है§।

---

* ज० ए० सो० बं०—न्यूमिस्मेटिक सप्लिमेंट फॉर १९३४, पृ० १६-१७।

† मजूमदार—'ए गाईड टू दि स्कलपचर इन दि इंडियन म्यूजियम, भाग १, पृ० ४६।

‡ कनिंघम—क्वायन्स ऑव एंशंट इंडिया, पृ० ५२-५४।

§ ज० ए० सो० बं०, १८९०, पृ० १८६-८७।

पंचम अध्याय

धर्म

चिरकाल से भारत धर्मप्रिय देश रहा है। यहाँ के आचार तथा विचार की भित्ति केवल धर्म पर खड़ी है। राजनीति, अर्थ-नीति, कला, साहित्य, सामाजिक विचार, पारस्परिक व्यवहार, सब इस देश में धर्म द्वारा शासित होते हैं। इस प्रकार भारत मे धर्म ही जीवन है। सिलवेन लेवी ने ठीक ही लिखा है—"भारतभूमि मे मानव परमात्मा मे सने हुए हैं। ईश्वर को मनुष्य चाहे किसी भी रूप में पूजे, वह ईश्वर को देखता है, सुनता है। वह उसका एक अश है और स्वय ईश्वर में अपने जीवन के प्रतिक्षण मे, वर्त्तमान रहता है*।" यदि हम मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता को विशुद्ध हिंदू धर्म के अतर्गत मानते हैं तो हमें यहाँ भी धर्म का दृढ़ प्रभाव देखना चाहिए।

किंतु समस्त सिंधु-प्रांत में एक भी ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं हुई है जिसे कि हम स्पष्ट रूप से धार्मिक महत्त्व दे सकें। आज तक वस्तुओं का जो विश्लेषण विद्वानों ने किया है वह अनुमान तथा कल्पना के ही आधार पर। इन ५००० वर्षों में तो कई नए ससारों तथा सभ्यताओ का अभिनय होता रहा है। वर्त्तमान काल में ५००० वर्ष की प्राचीन वस्तुओं के वास्तविक रूप को जानना कठिन ही नहीं बहुत अशों में असभव भी है।

---

* ओडेट्टी बुहल—इण्डियन टेम्पल्स, पृ० ११।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में मंदिर सदृश कोई इमारत नहीं मिली है। कुछ इमारतें, जो बनावट में असाधारण हैं, मंदिर मान ली गई हैं। श्री दीक्षित ने एक विचित्र इमारत को खोद निकाला था। इसका आँगन ६० फी० ६ इं० लंबा और ४७ फी० ४ इं० चौड़ा है। इस आँगन मे तीन कुएँ हैं। श्री दीक्षित इस इमारत को मंदिर बतलाते हैं। इन कुओं से पानी लेकर सर्वप्रथम अपने को शुद्ध करते रहे होंगे*। सर जॉन मार्शल भी कुछ भवनों को मंदिर बतलाते हैं। उनका कहना है कि मेसोपोटेमिया के कुछ मंदिर राजमहलों के ही सदृश थे†। शायद इसी ढंग के मंदिर मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में भी रहे हों।

सर जॉन मार्शल की एक धारणा यह भी है कि मोहें जो दड़ो में मंदिर लकड़ी के बनते थे‡। यह धारणा एकाएक मान्य नहीं हो सकती। जब मोहें जो दड़ो मे विशाल से विशाल इमारतो के लिये सुंदर पकाई ईंटें प्रयुक्त हो सकती थीं तो कोई कारण नहीं है कि मंदिरों के लिये भी यही ईंटें काम में न लाई जाती रही हो। हमारा अनुमान है कि यदि मोहें जो दड़ो में बड़े बड़े मंदिर नहीं थे, तो लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों के किसी कमरे मे ही करते रहे होंगे।

प्राचीन काल के प्रायः सभी प्रमुख देशों में धर्म का उच्च स्थान था। मोहें जो दड़ो तथा सिंधु प्रांत में भी धर्म का प्रभाव था। किंतु उनका दृष्टिकोण अधिकतर 'मतलब से मतलब' वाली उक्ति पर आधारित था। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है

---

* मार्शल—मो० इं० सि, पृ० २५२।

† वही, पृ० २१-२२।

‡ वही, पृ० २८४।

कि मिस्र की तरह यहाँ अधिक पुरोहित-प्रभाव नहीं था या उन लोगों के राजा सुमेर के पुरोहित राजाओं की तरह नहीं थे*।

मोहेंजो दड़ो तथा हड़प्पा में एक प्रकार की मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं जिन्हें पुरातत्त्वशास्त्री मातृदेवी की मूर्तियाँ मानते हैं (चि० स० ४, ५, ६)। इस वर्ग की सैकड़ो मूर्त्तियाँ सिंधु प्रांत मे पाई गई हैं। ये मूर्त्तियाँ प्राय' नग्न हैं। केवल वे कमर के नीचे एक पटका पहिने रहती हैं। इनके पैर बिल्कुल चिपटे हैं। पैरो की उँगलियों दिखलाने का इनमे कभी प्रयत्न नहीं किया गया। ये प्राय: आभूषणो से लदी हुई हैं। कई उदाहरणो मे तो मालाएँ नाभि तक पहुँच गई हैं।

मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल मे ईजियन से सिंधु-प्रात के बीच के सभी देशो मे जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमिया, ट्रैस-कास्पिया, लघु एशिया, मिस्र तथा सीरिया मे प्रचलित थी। इन देशो की मूर्तियो में इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रागैतिहासिक युग में मातृपूजा का भूमध्यसागर से भारत तक प्रचार हुआ था†। बलूचिस्तान मे भी कुछ मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं, किंतु यहाँ की मूर्त्तियों में सिर तथा धड़ ही बनाया जाता था। इनमे पैरों को न बनाकर कमर के नीचे एकदम चिपटा कर दिया गया है।

अधिकतर विद्वानों की धारणा है कि ये मूर्त्तियाँ माता प्रकृति की हैं। मातृदेवी की पूजा आदि के संबध में कुछ विद्वानो का मत है कि एशिया माइनर के अनातोलिया प्रदेश की जो सबसे

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० २३।

† इ० हि० क्वा०, सितबर, १६३४, पृ० ४१४।

चि० स० ५

श्री देवी प्रमुख हो गई थी। फिर पौराणिक हिंदू काल मे मातृदेवी अन्य देवताओं की श्रेणी मे स्थायी रूप से आ जाती है।

ऋग्वेद मे मातृदेवी या महामाई के लिये अदिति, प्रकृति तथा पृथ्वी माता शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा अदिति के लिये

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र.।

विश्वेदेवा अदिति, पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥*

कुछ मत्रों में वह मही माता, सुपुत्रा आदि नामों से संबोधित की गई है†। अदिति के रूप तथा गुण वैसे ही थे जैसे कि ब्राह्मण तथा पौराणिक साहित्य में वर्णित मातृदेवी के हैं। अदिति कभी कभी माता पृथ्वी भी कहलाती है। यथा—

(१) नमो मात्रे, पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै।‡

(२) इयं पृथ्वी वै माता।§

आजकल भारत में चडी, दुर्गा, भवानी आदि आदि नामो से अनेक देवियाँ भारत के घर घर में पूजी जाती हैं। कुछ स्थानो में देवियो को रोग की उत्पादिकाएँ तक माना गया है। शीतला तथा सग्रहणी रोगो की देवियाँ वर्ष मे एक वार अवश्य पूजी जाती हैं। गाँवो की अलग अलग ग्रामदेवियाँ भी होती हैं।

एक दूसरे वर्ग की मृण्मूर्तियाँ वे हैं जिनमें भिन्न भिन्न दृश्य दिखलाए गए हैं (चि० नं० ८)। कुछ उदाहरणों में बच्चे स्त्रियों के स्तन पान कर रहे हैं। गर्भवती स्त्रियों की मूर्त्तियाँ भी प्रायः खुदाई

---

* ऋग्वेद १, ८९, १०।

† इस विषय पर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख जो 'इडियन कल्चर' अप्रैल १९३८ की सख्या में प्रकाशित हुआ था, पठनीय है।

‡ यजुर्वेद ९, २२।

§ तैत्तिरीय सहिता, ३,८,९,१।

चि० सं० ८
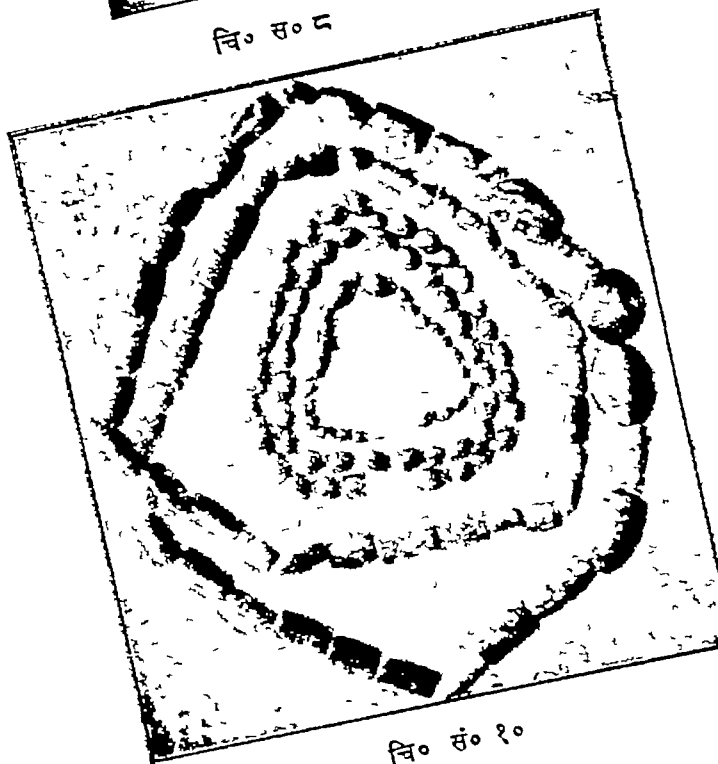
चि० सं० १०

में प्राप्त हुई हैं। हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी के एक मोटे तख्ते पर एक गर्भवती स्त्री लेटी है*। दूसरे उदाहरण में एक स्त्री अपने सिर पर किसी पात्र में रोटियाँ लिए हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूर्त्तियाँ प्रायः मंदिरों में भेंट की जाती थीं और इसका ध्येय देवी देवताओं से पुत्र-वरदान माँगना था†। प्रकृति देवी का चित्रण हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पष्ट है। इस मुद्रा में एक स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकल रहा है। बाईं ओर ६ अक्षरों के लेख के बाद दो पशु हैं। इस मुद्रा की दूसरी ओर फिर वही लेख है। लेख की बाईं ओर एक पुरुष तथा स्त्री का चित्रण है। स्त्री दोनों हाथों को ऊपर उठाए बैठी है। पुरुष के दाएँ हाथ में हँसिए की तरह कोई वस्तु है। संभवतः मुद्रा की दूसरी ओर अंकित देवी को यह स्त्री बलि दी जा रही हो‡।

भीटा में प्राप्त बाद की एक मूर्त्ति पर भी ऐसे ही भाव का चित्रण है। इस मूर्त्ति में एक स्त्री के गले से कमल निकल रहा है§। कौशाम्बी से भी एक ऐसी ही मूर्त्ति प्राप्त हुई थी×।

एक दूसरी फियांस की मुद्रा में एक स्त्री पलथी मारकर बैठी है। इसके दोनों ओर नागा पुजारी हैं। स्त्री के ऊपर पीपल की पत्तियों का चित्रण है। एक और बड़ी विचित्र मुद्रा मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई है। इसमें पीपल जैसे वृक्ष के तने से दो जुड़े हरिणों के सिर निकल रहे हैं।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३०० ।

† मैके—इं० सि०, पृ० ८८-८६ ।

‡ मार्शल—मो० इं० सि, पृ० ७० ।

§ आ० स० रि०, १६११-१२, प्लेट० १३ चि० ४० ।

× कलकत्ता म्यूजियम कैटलाग, जिल्द २, पृ० २६६ ।

मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियां भारत मे वहुत काल तक चलती रहीं। प्राक् मौर्य्य, मौर्य्य शुग तथा कुषाण काल की असख्य मृण्मूर्त्तियॉं भारत के प्राचीन स्थानो से प्राप्त की गई हैं।

मि० मेके को एक ऐसी मुद्रा मिली थी जिसे पुरातत्त्वपडित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं [चि० २४ (अ)]। इस आकृति मे शिव के तीन चेहरे हैं। हाथ दोनो ओर घुटनों के ऊपर रक्खे हैं और शिवजी पलथी मारकर पूर्ण योग की अवस्था मे एक तिपाई पर वैठे है। तिपाई की दाई ओर चीते तथा वाईं ओर गैंडे और भैंस का चित्रण है। ठीक शिवजी के सम्मुख द्विशृगी हिरण खडे हैं। कलाई से लेकर वाजुओ तक वाजू-वद हैं। सिर पर दो सींग हैं जो सिरवंद से वॅधे हैं। वक्ष पर कोई त्रिकोण ढग का आभूषण सा है जो कई लड़ियो को जोड़कर वनाया जान पड़ता है। मुद्रा के ऊपरी भाग में सात शब्दों का एक लेख भी है*।

ऐतिहासिक युग मे शिवजी की मूर्त्तियॉं प्राय. २, ३ तथा ४ मुखो की मिलती हैं। शिवजी की वाद की एक दर्शनीय त्रिमुख मूर्त्ति आवू पर्वत के निकट देवांगणा नामक स्थान में मिली है। यह आश्चर्य सा है कि भारतीय शिल्प की मध्यकालीन पूर्वी शाखा मे शिवजी की एक, चार और पॉंच मुखों वाली मूर्त्तियाँ ही मिली हैं। त्रिमुख मूर्त्ति का कोई उदाहरण इस शाखा में नहीं है†।

इस मुद्रा पर हम शिवजी के तीन ही मुख देखते हैं किंतु यह सभव है कि चौथा मुँह पीछे छिप गया हो। श्री मुकर्जी का कथन

---

* आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७४।

† वनर्जी—ईस्टर्न स्कूल ऑव मेडीवल स्कलपचर, पृ० ११०-११।

चि० स० २४ (च)
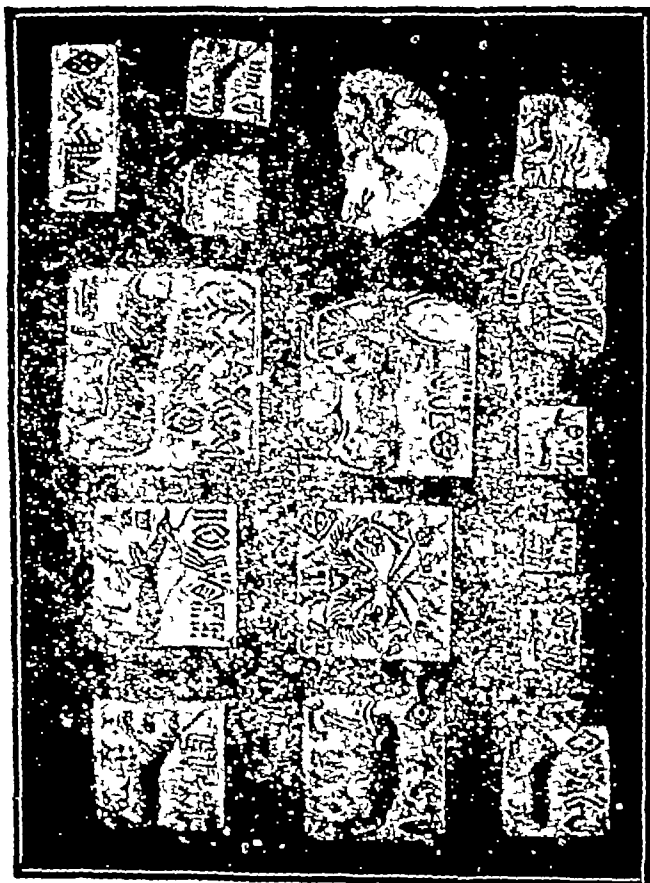
है कि यह शिवजी की पशुपति-रूप की आकृति है। उनका कहना है कि देवता के सिर पर जो सींग हैं वे त्रिशूल के द्योतक हैं*। श्री मुकर्जी ने इस देवता को पशुपति-रूप में इसलिये माना है कि इस देवता के सम्मुख पशु चित्रित किए गए हैं। किंतु सींगों को हम एकाएक त्रिशूल नहीं मान सकते। ऐसे सींग प्रायः मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त मुद्राओं पर भी दीख पड़ते हैं। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सुमेर, वेबीलोन तथा ईरान में तो पुरोहित और राजा सींगों को पहिनते थे। ये राजा उस काल से ईश्वर के अवतार माने जाते थे। मथुरा में भी बाद का, मेष के अंगो से अलंकृत, एक राजा का सिर मिला है। जान पड़ता है कि मथुरा की कला में यह भाव ईरान से लिया गया था†। ऐसे ही दो सींग मोहें जो दड़ो में प्राप्त एक धातु की आकृति के भी हैं (चि० सं० २१)। संभवतः सिंधु-प्रांत के शिवके सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हों। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि ऐतिहासिक युग में आकर यही त्रिशृंग प्रतीक त्रिशूल के रूप में आया।

ऋग्वेद युग तथा उसके बाद के शिव के त्रिमुख रूप का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। वैदिक युग के बाद शिव को त्रिनयन (त्र्यंबक) अवश्य कहा गया है। त्र्यंबक का अर्थ शायद तीन माताओं वाला देवता है। मोहें जो दड़ो की शिव-आकृति में तीन देवताओं (जिनकी तीन अलग अलग माताएँ थीं) को एक करने का प्रयत्न किया गया है‡।

---

* मुकर्जी—हिस्ट्री ऑव हिंदू सिविलाईजेशन, पृ० २०।

† अग्रवाल—ए हैंडबुक ऑव दि मथुरा म्यूजियम (हिं०), नं० १८ (बी)।

‡ ज० इं० सो० ओ० आ०, अगस्त-दिसंबर, १९३७, पृ० ७५।

सर जॉन मार्शल को इस मुद्रा के शिव के लिंग नहीं दिखाई पड़ा। फिर ध्यान से देखने से पता लगता है कि आकृति के भाग ऊर्ध्व लिंग भी है। संस्कृत साहित्य की अनेक पुस्तकों में लिखा है कि शिव मूर्तियों में ऊर्ध्व लिंग का होना आवश्यक है। ऊर्ध्व लिंग सहित शिवजी की अनेक मूर्तियाँ भारत के पूर्वी भाग बिहार उड़ीसा तथा बंगाल में मिलती हैं। लिंग सहित शिवजी को पूजने की प्रथा शायद मोहेंजो दड़ो निवासियों को ज्ञात थी*।

शिवजी की दूसरी मूर्ति एक नामपट पर अंकित है। इसमें भी भगवान शिव योगासन मारे हुए हैं। शिवजी के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त हैं। दो फनधर बैठे हुए सर्प सम्मुख बैठे हैं। यहाँ पर शिवजी का संबंध नागों से दिखलाया गया है। शिवजी अपने गले में सर्प धारण किए हुए हैं†।

एक दूसरी मुद्रा के रूप में एक शिकारी हाथ में धनुष बाण लिए है। श्री रामचन्द्र दीक्षितार कहते हैं कि इसमें शिवजी शिकारी के रूप में दिखलाए गए हैं।

ऋग्वेद में हम रुद्र ही का वर्णन पाते हैं। इसमें रुद्र को विद्युत माना गया है। वह पशु पक्षियों को इधर-उधर मारा करता है। इसलिये रक्षा के हेतु सब पशु उसके आधीन छोड़ दिए जाते हैं। (अथर्ववेद ११,६,६)। विद्युत को लोग प्रायः एक पत्थर के टुकड़े के रूप में मानकर पूज लेते हैं। ब्लिंकेनबर्ग ने यह प्रमाणित किया है कि ऐसे पत्थरों की पूजा संसार के कई भागों में होती थी। अभी तक दक्षिण भाग में भी ऐसे पत्थर पूजे जाते हैं। आश्चर्य है कि दक्षिण भारत में एक पत्थर के ऊपर त्रिशूल

---

* इंडियन कल्चर—अप्रैल १९३६, पृ० ७६७।

† मॉडर्न रिव्यू—जिल्द १२, पृ० १५७।

भी पड़ा था। विद्युत् के पत्थरों और लिंग के बीच बड़ी समानता है। मोहें जो दड़ो के लिंगों और इनकी समानताओं को देखकर मालूम होता है कि मोहें जो दड़ो मे भी रुद्र की पूजा होती थी*।

मोहें जो दड़ो निवासी योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। पुराण, तन्त्र और वेद इन तीनो की दृष्टि से योग संप्रदाय एक अति प्राचीन संप्रदाय माना जाता है। प्राचीन योगशास्त्रों में लिखा है—(१) ठीक आसन, (२) सीधा मस्तक, धड़ और ग्रीवा तथा (३) अर्द्ध निमीलित नेत्र, जो नासिका के अग्र भाग पर स्थिर हों। श्री रामप्रसाद चदा के अनुसार मोहें जो दड़ो के पुजारी की मूर्त्ति योगासन का परिचय देती है†। इस मूर्त्ति के नेत्र खुले हुए और नाक की ओर स्थिर हैं। इस मूर्त्ति के अतिरिक्त कुछ मुद्राओं से भी योगासन के सकेत मिलते हैं। फियांस की मिट्टी पर एक आकृति चबूतरे या तिपाई पर बैठी है। इसके दोनों ओर हाथ जोड़े कुछ भक्त हैं, जिनके पीछे दो नाग फण को ऊपर किए हुए हैं। इस बीच में बैठी हुई आकृति के बैठने के ढंग से मालूम होता है कि यह कोई देवी है और योगासन से बैठी है। मोहें जो दड़ो के शिव को योगासन में हम पहले ही देख चुके हैं। इनके अतिरिक्त लगभग छः मुद्राओ पर की आकृतियाँ योग की कायोत्सर्ग दशा को सूचित करती हैं। इनके खड़े होने के ढंग बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे हम शास्त्रों में पाते हैं।

प्राचीन काल में परिव्राजक साधुओं का एक ऐसा समुदाय था जो किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता था। ये साधु जितें-

---

* इंडियन कल्चर—अप्रैल १९३६, पृ० ६५७।

† आ० स० मे०, नं०, ४१, पृ० २१।

लिप्त होते थे। आज दिन भी भारत के सभी स्थानों में कई प्रकार के आसन किये जाते हैं। संभवतः यह परंपरा सिंधु प्रान्त से ही चली आ रही है। योगशास्त्र के प्रसिद्ध योग विशारद आचार्यों ने योग के जिन आसनों का वर्णन है उनमें और मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मूर्तियों तथा मुद्राओं पर अंकित आकृतियों के आसनों में बड़ी समानता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग में जो योगी सिन्धु-घाटी में रहते थे, उनकी योग-साधना ही पातंजल योग का प्रारंभिक रूप थी।

कालान्तर में बौद्ध और जैन धर्म के कारण योग का प्रचार बढ़ा। ये योग की मुद्राएं इन धर्मों के उत्थान काल की मूर्तिकला में भी दिखाई पड़ती हैं। किन्तु भारत में बौद्ध या जैन तीर्थंकरों की (केवल एक अपवाद के अतिरिक्त) कोई भी मूर्तियां प्रथम शताब्दी तक नहीं बनीं। तब फिर मोहें-जो-दड़ो तथा प्रारम्भिक बौद्ध या जैनकालीन मूर्तियों में किस प्रकार शृंखला जोड़ी जा सकती है? यह हो सकता है कि इस बीच किसी योग से अनभिज्ञ सभ्यता का बोलबाला रहा हो। इस सभ्यता के भी अवशेष हमें शायद निकट भविष्य में प्राप्त हो सकें।

मोहें-जो-दड़ो में लिंग के आकार की कई वस्तुएं मिली हैं (चि० सं० ६)। हिंदू धर्म में भगवान् शिव और माता पार्वती केवल मनुष्य रूप ही में नहीं वरन् लिंग और योनि के प्रतीकों में भी पूजे जाते हैं। लिंग की उत्पत्ति का काल और स्थान हमें ज्ञात नहीं। मि० बार्थ कहते हैं कि किसी काल में देवताओं के प्रतीकों की खोज में अकस्मात हिंदुओं को योनि और लिंग मिल गए। ऐसी आकस्मिक प्राप्ति उन लोगों के बीच जो ईश्वर

---

* दीक्षितार—कल्याण, "योगांक", पृ० २३७।
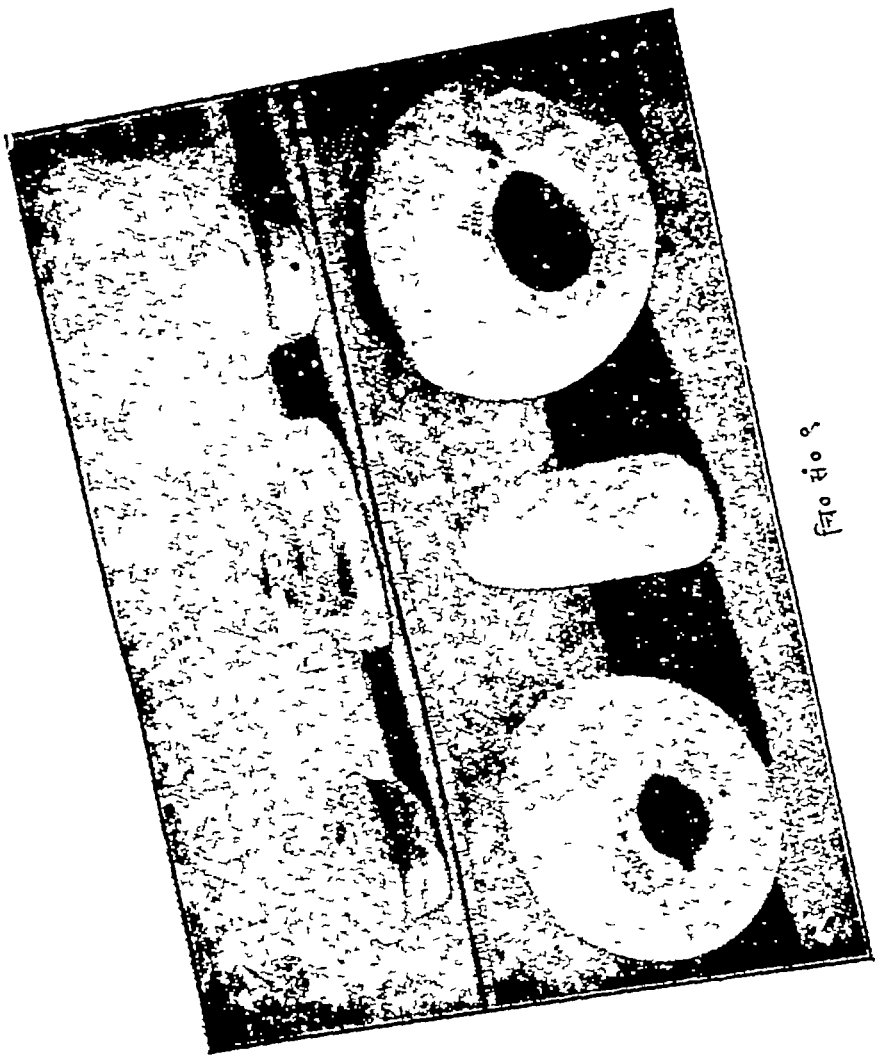
चि० सं० ९

को पुरुष और बैल के रूप में पूज सकते थे, अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती*।

लिंग का वर्णन ऋग्वेद में भी है। पौराणिक साहित्य में यह शब्द विशद रूप में प्रयुक्त हुआ है। विष्णुपुराण में लिंग और योनि दोनों का वर्णन है। किंतु लिंग का प्रत्यक्ष वर्णन सर्वप्रथम रामायण में आता है। कहते हैं कि रावण ने स्वर्ण का एक लिंग बनवा रखा था और जहाँ भी वह जाता, इस लिंग को अपने साथ ले जाता था। महाभारत के कई स्थलो में लिंग का वर्णन आया है।

प्रागैतिहासिक युग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आर्यों से पहिले के लोगों में भी लिंगपूजा प्रचलित थी। इन लोगों के बीच मे ये करामाती या धार्मिक प्रतीक समझकर पूजे जाते थे। भारत में ऐसे अनेक उदाहरण दक्षिण भारत में पाए गए हैं। मि० फुट को नवीन पाषाण-युग का एक सुंदर लिंग दक्षिण भारत में प्राप्त हुआ था†। भारत में सम्भवतः आर्य्य लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों से लिंग तथा इसके प्रतीकों के नाम लिए‡। ऐतिहासिक युग के या उससे भी कुछ पहिले के दो शिव-लिंग—एक गुद्दीमल्लम (दक्षिण भारत) में और दूसरा भीठा (प्रयाग) में प्राप्त हुए हैं+।

---

* वार्थ—रिलिजन्स ऑव इंडिया, पृ० २६१।

† फुट—इंडियन प्रीहिस्टॉरिक एंड प्रोटोहिस्टॉरिक एंटिक्विटीज, पृ० ६१।

‡ इं० हि० क्वा०, मार्च १९३४, पृ० २२।

\+ गोपीनाथ राव—एलीमेन्ट्स ऑव हिंदू आईकनोग्राफी, पृ० ६३-६६।

सर जॉन मार्शल ने मोहें जो दड़ो में पाए गए लिंगो को दो भागों-(१) फैलिक (लिंग) और (२) वेईटिलिक (सिरे पर नुकीले लिंग)—मे विभाजित किया है। इनमें से कुछ लिंग तो ऐसे हैं जिनकी महत्ता के विषय में कुछ संदेह ही नहीं हो सकता। सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान मे भी कुछ लिंग मिले हैं। जान पड़ता है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में संसार के कई देशों में लिंगो-पासना प्रचलित थी। मिस्र, यूनान, रोम आदि देश मे वाल-पीट की पूजा होती थी। ये ईश्वर लिंग संप्रदाय से सबंध रखते हैं। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में बड़े लिंग तो साधारण या चूने के पत्थर के बने हैं और छोटे लिंग प्रायः फियांस या घोंघे के हैं। इनकी ऊॅचाई आध इंच से लेकर एक फुट तक है। कुछ लिंग तो इतने छोटे हैं कि उन्हें पॉसों के राजा मानने के अलावा उनका कोई दूसरा प्रयोग नहीं सूझता। किंतु बड़े लिंग निस्संदेह पूजा के लिये थे। कर जॉन मार्शल कहते हैं कि बड़े लिंग भिन्न भिन्न संप्रदायों के रहे होंगे और छोटे लिगों को लोग प्रायः अपने ही पास रखते होंगे। छोटे लिगों को लोग इधर उधर ले भी जासकते थे।

वेईटिलिक लिग कई आकारों में हैं। कई तो ३ फुट ३ इच ऊॅचे हैं। आकार में तो ये आजकल प्रचलित लिंगों की ही तरह हैं, किंतु पहले वर्ग के लिंग देखने में अधिक सुदर हैं। एशिया के पश्चिमी देशों में भी ऐसे ही लिंग पाए गए हैं। वेईटिलिक भी शुद्ध लिंग हैं। शैव धर्म जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे वेई-टिलिक लिंगों का रूप साधारण लिंगों के साथ मिलने लगा। इस कारण हम देखते हैं कि मध्य तथा आधुनिक काल के अधिकतर लिंग वेईटिलिक रूप के हैं*।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ६१।

इनके अतिरिक्त मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे बीच में छिद्र सहित कुछ पत्थर के मंडल भी मिले हैं। इनका घेरा आध फुट से लेकर चार फुट तक है। बड़े मंडल तो पत्थर के तथा छोटे फियांस, घोंघे आदि के बने हैं। इन मंडलो के प्रयोग के विषय मे भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि ये स्तभ आधार थे किंतु छोटे छोटे मंडल किस काम आते थे, इस बात का वे सतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। शायद इनमें से कुछ मडल करामाती भी समझे जाते थे। यह विश्वास भारत के कछ भागों में अभी तक चला आ रहा है। मलाबार तट पर तो इनका आज दिन भी अच्छा प्रचार है। इनको अपने पास रखना शुभ समझा जाता था। कुछ मंडल उस युग के लिंगो के गौरीपट्टस का काम भी देते थे।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि ये मंडल योनियाँ हैं। लिंगो के साथ योनियों का होना स्वाभाविक ही है। तक्षशिला मे भी कुछ ऐसे मंडल मिले हैं। इन मडलों के भीतरी भाग मे उत्पत्ति की देवी का चित्रण है। इससे मालूम होता है कि ये मंडल मातृदेवी की उपासना से संबंध रखते थे। किसी समय शैव संप्रदाय के प्रभुत्व में लिंग तथा योनि की पूजा साथ साथ चलती रही होगी*।

यहाँ पर यह कहना भी उचित होगा कि सभी मंडल योनियाँ नहीं थे। इनमें कुछ उदाहरण अवश्य ऐसे हैं, जिनका प्रयोग ज्ञात नहीं हो सका है।

मोहें जो दड़ो से प्राप्त वस्तुओं से शाक्त धर्म के विषय मे कुछ विशेष नहीं बतलाया जा सकता। भारत में यह संप्रदाय वड़ा प्राचीन है। शक्ति की उपासना आज भी भारत के देवी देव-

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ६३।

ताओं में उच्च तथा श्रेष्ठ स्थान रखती है। शाक्त धर्म की उत्पत्ति भी मातृदेवी संप्रदाय से संबध रखती है*। अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि एक मुद्रा में बकरे की बलि का दृश्य अंकित है। शक्ति-उपासना में बकरे की बलि का विशेष महत्त्व है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रांत में शक्ति-उपासना भी प्रचलित थी। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से यह धारणा समूल नष्ट हो जाती है कि भारत में शाक्त धर्म का उदय यूनानी अथवा अन्य पाश्चात्य आक्रमणों के कारण हुआ था।

सिंधु-प्रांत में प्राप्त तावीजों, मुद्राओं तथा मिट्टी की पट्टियों में कई प्रकार के पशुओं का चित्रण है। विद्वानों की धारणा है कि ये पशु किसी धार्मिक भावना अथवा धार्मिक उद्देश्य से चित्रित किए गए हैं। सर जॉन मार्शल सिंधु-प्रांत की पशुपूजा को तीन भागों में विभाजित करते हैं:—

(१) दंती पशुओं की पूजा।

(२) कुछ दंती पशु, जिनकी उत्पत्ति तथा महत्त्व विशेष रूप से ज्ञात नहीं है।

(३) वास्तविक पशुओं की पूजा।

प्रथम वर्ग के पशु बड़े कौतूहलप्रद हैं। इनमें पशुओं के वास्तविक अंग-प्रत्यग नहीं दिखलाए गए हैं। यही बात मनुष्य-आकृतियों के विषय में भी है। किसी में चेहरा तो बकरी की तरह, किंतु धड़ और पैर मनुष्य की तरह दिखलाए गए हैं। कुछ में चेहरे तो मनुष्य के से हैं, किंतु शरीर बैल, बकरी या हाथी के शरीर के अवयवों से बने हैं। एक मुद्रा में सिर तो बाघ का है किंतु इसकी पूँछ साँप जैसी है। इसके सिर पर तीन सींग हैं।

---

* इ० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० ३९-४०।

किंतु ये सींग भी तीन भिन्न भिन्न पशुओं के मालूम होते हैं। एक दूसरी मुद्रा में नीलगाय, आल्प्स पर्वत के बकरे तथा एक-शृंगी पशु के सिर चित्रित किए गए हैं। एक मुद्रा में विचित्र दृश्य है। इसमें एक अर्द्धमनुष्य तथा अर्द्धपशु आकृति, एक-शृंगी बाघ पर आक्रमण कर रही है। सुमेरु-साहित्य मे वर्णित 'इनकिदू' या ईबानी भी इसी तरह का था*।

सींगो का प्रयोग भी मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे होता था। इन दोनो स्थानों में नीलगाय के कई सींग प्राप्त हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सींगों को पूजने या प्रयोग करने की प्रणाली एक ही स्रोत से निकली है। नीलगाय अधिकतर इलम में पाई जाती है और यही स्थान शायद सींगों का उत्पत्तिस्थान भी रहा हो। सर जॉन मार्शल के अनुसार नीलगायें एक समय ससार के सब भागों में प्रचलित थीं।

एक बड़े स्तनोंवाली स्त्री-आकृति के सिर पर भी सींग जैसे मालूम होते हैं। किंतु यह सदेहजनक है। मि० मैके तो कहते हैं कि इस आकृति के सिर पर शायद पत्ती बैठे हैं। यदि सचमुच इस आकृति के सिर पर सींग हैं, तो यह कहना होगा कि सिंधु-प्रांत में सींगोंवाली यह प्रथम स्त्री-आकृति है।

सींगों सहित अनेक पुरुष-मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं। एक मूर्त्ति कमर से नीचे टूटी हुई है। इसके गले में एक गले भर ऊँचा कालर की शकल का आभूषण है। सिर पर अब एक ही सींग रह गया है। दूसरे उदाहरण में सिर पर दो सुंदर ऊँचे सींग हैं। किंतु उनके ऊपरी भाग टूट गए हैं। ये पुरुष-आकृतियाँ उस काल के देवता मानी जाती रही होंगी।

---

* आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९६।

† वत्स—य० ह०, पृ० २९६।

मोहें जो दडो में सींगों सहित तीन मुखार मिले हैं❀। एक ताम्र पर अंकित मूर्त्ति भी सींग पहिने मिली है।

कुछ सभ्यताओं के लोगो का विश्वास था कि ममुष्य रूप में आने से पहिले देवता पशु रूप में ही पूजे जाते थे। कालांतर में जब पशु, पुरुप देवता का रूप धारण करने लगे, तो उनके चिह्न-स्वरूप केवल ये सींग ही रह गए। ये सींग उस समय किसी अद्भुत शक्ति के प्रतीक माने जाते थे।

दूसरे प्रकार की पशु-पूजा में अधिकतर एकश्रृगी पशु हैं। यह पशु विशद रूप में सिंधु प्रांत की मुद्राओं पर चित्रित किया गया था। यह भी सभवतः कोई दंती पशु था, क्योंकि इसका रूप कई मुद्राओ में भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इस पशु के वास्तव में दो सींग थे, किंतु एक सीध में अकन होने के कारण एक सींग दूसरे सींग के पीछे छिप गया है। यह धारणा मान्य नहीं हो सकती। सिंधु प्रांत में अनेक ऐसे भी पशु हैं जिनका चित्रण पार्श्विक ढंग से होने पर भी वे दोनो सींगों सहित चित्रित किए गए हैं। एकश्रृंगी पशु की पीठ पर जीन या अन्य कोई ऐसी ही वस्तु पड़ी रहती थी। इसके गले में कभी-कभी गोल छल्लों से बना कोई आभूषण भी रहता था। कुछ पशुओं के मुँह के आगे कोई लब आधार या स्तभ हैं, जिनके ऊपर धूपबत्ती जलाई जाती रही होगी। ये लब आधार दो भागों में बनते थे। ऐसा जान पड़ता है कि लब आधार स्वयं पूजा की अलग वस्तु थे। हड़प्पा में कुछ छोटी छोटी मुद्राऍ मिली हैं। इनमें केवल लब आधार ही बने हैं। श्री वत्स की धारणा है कि लंब आधार एकश्रृगी पशु के साथ आने के बहुत पहले से पूजे जाते थे।

❀ वही, पृ० २३२।

इन स्तंभों की परंपरा मौर्य तथा शुंग काल तक अनवरत रूप से चलती रही*। कतिपय विद्वानों का कहना है कि अशोक-कालीन स्तंभों के बनाने की शैली फारस से आई। किंतु इस धारणा का अब कई प्रमाणों द्वारा खंडन हो गया है। ये स्तंभ बौद्ध लोगों ने तो लेखों के लिये बनाए, जैन लोगों ने इनको दीपस्तंभ नाम दिया तथा वैष्णव संप्रदाय ने इन्हें गरुड़ध्वज नाम दिया†। कुछ स्तंभों के ऊपर तो कल्पवृक्ष भी रखे जाते थे‡। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत में रण-स्तंभ, मान-स्तंभ, कीर्ति-स्तंभ आदि आदि भी थे। मोहें जो दड़ो की मुद्राओं पर इन स्तंभों के प्राप्त होने से इस बात की भी पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत के निवासियों ने बिना किसी देश की सहायता से भिन्न भिन्न कार्यों के लिये स्तंभ बनाए थे।

कुछ स्तंभ आधारों पर शायद पशु भी रखे जाते थे। सर जॉन मार्शल ने सचमुच एक आधार के ऊपर रखे पिंजड़े पर एक पशु पाया था। संभवतः सिंधु-प्रांत-निवासियों को कई प्रकार के ऐसे स्तंभ विदित थे किंतु अदृढ़ पदार्थ के बने होने के कारण वे नष्ट हो गए हैं। ऐसे स्तंभों के ऊपर देवी देवताओं के वाहन भी रखे जाते होंगे। दो मुद्राओं के ठप्पों में मनुष्य एक पंक्ति में दिखलाए गए हैं। इनके हाथ में एक एक स्तंभ है।

हरिण का चित्रण कम मुद्राओं पर हुआ है, यद्यपि सुमेर और इलम की अनेक मुद्राओं पर इसका चित्रण है। कहीं कहीं

---

* आ० स० मे०, नं० ३१ पृ० ३५।

† रूपम—जुलाई १९२२, पृ० ६६।

‡ बेसनगर से प्राप्त ऐसा एक दर्शनीय कल्पवृक्ष इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता के प्रवेश-कोष्ठ में प्रदर्शित है।

तो इस पशु की आकृति बिल्कुल बैल जैसी है। सभवतः यह पशु वेदों में वर्णित 'गोमृग' का ही सकेत देता है*।

फियांस की एक मुद्रा में एक नाग के सम्मुख कोई मनुष्य-आकृति झुकी सी दीख पड़ती है। खेद है कि खडित अवस्था में होने के कारण इस मुद्रा में अन्य वस्तुएँ नष्ट हो गई हैं। दूसरी मुद्रा में एक आकृति तख्ती के ऊपर बैठी है। इस आकृति के दोनों ओर दो नागा पुजारी हैं। इन पुजारियो के पीछे फण उठाए एक एक नाग भी हैं। इस दृश्य से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रात में नाग पूजा भी थी।

वेदो से नागपूजा के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता, किंतु सूत्रों के पूर्व के साहित्य मे नाग-पूजा का बराबर वर्णन मिलता है।

वास्तविक पशुओं की पूजा में भैंस, भारतीय नीलगाय, ऋषभ बैल, हाथी, गैंडा, बाघ तथा छोटे सींगोवाले बैलों का चित्रण है। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में ये सब पशु पजाब तथा सिंधु-प्रांत मे थे। ये पशु या तो मुद्राओ या ताम्रपट्टियों पर अंकित हैं। कुछ खिलौने प्राकार-मूलो पर भी स्थित थे। ये सभवतः किसी सध्या या पूजा के कमरे में स्थपित किए जाते रहे होंगे। इन सब पशुओं का धार्मिक महत्त्व था।

सबसे प्रचलित पशु कूबड़ तथा बिना कूबड़ के बैल थे। इनका चित्रण अनेक मुद्राओं पर दीख पड़ता है। सिंधु-प्रात में बैल को सर्वत्र बड़ी सावधानी तथा कुशलता से बनाया गया है। इससे इसका असाधारण महत्त्व ज्ञात होता है। सभवतः यह पशु सिंधु-प्रात में शिव जी का वाहन माना जाता था।

---

* आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ५२।

मोहें जो दड़ो में ताम्र का बना एक सुंदर किंतु विचित्र कूबड़-दार बैल मिला है। इसका मुँह नीचे की ओर है। एक कान तथा सींग किसी कपड़े से बँधा है। यह ताम्र के समूचे टुकड़े से बनाया गया है। पशु एक गोल छल्ले के आकार पर स्थित है। कदाचित् इस छल्ले का भी कोई विशेष धार्मिक महत्त्व रहा हो? अनेक उदाहरणों में बैलों के गलों में मालाएँ पड़ी हैं।

छोटे सींगोंवाले बैलों का चित्रण या तो मुद्राओं पर हुआ है, या वे मिट्टी के खिलौने के रूप में हैं। इनमें इस पशु का सिर सदैव नीचे की ओर तथा एक ओर मुड़ा रहता है। इसके मुँह के ढंग से ज्ञात होता है कि यह पशु किसी क्रोध की मुद्रा में है। शायद यह बैल किसी संहारकारी देवता का वाहन रहा हो*।

ऐसा ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत की किसी विशेष सस्कार-विधि में बैलों के खिलौने काम आते थे। मानसार में भी मिट्टी के बैल का वर्णन है†। मोहें जो दड़ो में एक अति सुंदर बैल का सिर प्राप्त हुआ है। इसके तले पर एक त्रिकोण छिद्र है। अनु-मानतः यह सिर किसी आधार पर टिकाया जाता रहा होगा। इस बैल के सींग तथा कान टूट गए हैं। किंतु यह मालूम हो ही जाता है कि वे अलग से बनाकर फिर पशु-शरीर में बने छिद्रों में डाले जाते थे‡।

बैल का सिंधु प्रांत ही में नहीं वरन् संसार के सभी प्राचीन देशों में धार्मिक महत्त्व था। पश्चिम एशिया में देवताओं को लोग बैलों के रूप में पूजते थे। कुछ देशों में राजा तक सींगों को पहि-

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३८५।

† आचार्य्य (सं)—मानसार, ६३/१५-१७।

‡ आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १०७।

नते थे। प्राचीन उर में भी वैल के कई उदाहरण मिले हैं। 'राजा की कब्र' मे प्राप्त एक वाजे का सिर वैल जैसा वना है। यह सिर अदर से तो लकड़ी का है, किंतु इसके ऊपर सोने की एक पतली चद्दर थी*। उर में ताम्र के भी कुछ वैल मिले हैं। ऐसा कहा जाता है कि उर में वैल द्वारपालों का काम देते थे। वहाँ के निवासियों का विश्वास था कि ये पशु अद्‌भुत शक्ति रखते हैं। इस कारण उनके द्वारपाल होने से कोई वुरी आत्माएँ भवनों के अदर प्रवेश नहीं कर सकतीं। वौद्ध वेष्टनियों के प्रमुख द्वारों पर भी जो यक्ष यक्षिणियो की मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं वे भी इसी भावना तथा विश्वास से वनाई जाती थीं।

भैंसे का चित्रण कुछ मुद्राओं पर मिलता है। कई दृश्यो में वह मनुष्यो पर धावा करता दिखाई देता है। यह उस काल में भी यम का वाहन या भैरव का दूत माना जाता रहा होगा। यह ज्ञात नहीं है कि यह पशु शिकार के काम आता था या केवल पवित्र ही माना जाता था।

कुछ पशुओं के सम्मुख तसला सा कोई वर्त्तन रखा है। यह तसला वैलों के आगे नहीं है। हड़प्पा से प्राप्त केवल एक उदाहरण मे वैल के सम्मुख तसला है। फियास की वनी एक मुद्रा पर वैल किसी तसले पर खाना खाता सा चित्रित है। समस्त सिंधु प्रात की खुदाइयों में यही एक उदाहरण है जिसमें कि यह पशु झुककर तसले में रखा खाना खा रहा है†। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि यह तसला इस वात का द्योतक है कि ये पशु पवित्र हैं और इसमे उनको भोग दिया जा रहा है। यह भी

---

* गैड—हिस्ट्री ऑव मोनूमेंट्स इन उर, पृ० ३५।

† वत्स—य० ह०, पृ० ६३।

हो सकता है कि ये पशु क्रुद्ध प्रकृति के थे और इनको कीलों पर बाँधकर भोजन दिया जाता था। यह तसला प्रायः नीलगाय, गैंडा आदि पशुओं के आगे मिला है।

खुदाई में ऊँट की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि मोहें जो दड़ो का ऊँट उसी जाति का था जिस जाति के ऊँट आज दिन भी शिवालिक की पहाड़ियो की ओर मिलते हैं।

हाथी का चित्रण भी कई ताम्रपट्टियो तथा मुद्राओं पर मिलता है। फियांस के बने हाथी के कोई खिलौने नहीं मिले है। मिट्टी के कुछ उदाहरण प्राप्त हुए हैं और ताम्र में तो केवल एक ही उदाहरण है। हाथी भगवान् इंद्र का वाहन है। महात्मा बुद्ध भी अपनी माता के गर्भ मे हाथी के रूप मे ही अवतरित हुए थे। किंतु यह पता लगाना कठिन है कि सिंधु-प्रांत मे हाथी का क्या महत्त्व था। आजकल हाथी विशेषतया भारत के दक्षिण तथा पूर्वी भागों मे पाया जाता है, किंतु जब अनुकूल वायु थी तो हाथी भारत के उत्तर तथा पश्चिमी भाग में भी रहते रहे होंगे। नीलगाय का चित्रण भी बहुत हुआ है। इस पशु को भी पवित्र माना जाता रहा होगा। गैंडे के जितने भी उदाहरण मिले हैं वे बच्चों द्वारा बनाए गए हैं। यह पशु भी विशद रूप में चित्रित किया गया है और यह भी एक समय सिंधु-प्रात में पाया जाता रहा होगा। कहीं कहीं इस पशु की खाल की झुर्रियाँ बड़ी सफाई के साथ दिखलाई गई हैं। घड़ियाल तथा मगर का चित्रण भी दीख पड़ता है; और हमारा अनुमान है कि ये दोनों पशु किसी नदी के देवी देवता से संबंधित थे। मकर गंगा का वाहन माना जाता है।

सिंधु प्रांत मे बकरे भी होते थे। एक मुद्रा के ठप्पे पर मुड़े

हुए सींगो का एक बकरा चित्रित है। इस पशु के गले मे तीन मालाएँ भी हैं। यह अपने ढग का प्रथम उदाहरण है जिसमें बकरे के गले में मालाएँ दिखलाई गई हैं*। इससे ज्ञात होता है कि सिंधु प्रांत में बकरा पवित्र माना जाता था। एक दूसरी मुद्रा में चित्रित आकृति में शरीर तो बकरे जैसा है, किंतु चेहरा मनुष्य का है। इस दृश्य का सबंध कदाचित् किसी वृक्ष-आत्मा से था†। हड़प्पा में प्राप्त एक बकरे का सिर किसी आधार पर स्थित है। इसकी दाढ़ी गहरी रेखाओं से दिखलाई गई है।

बड़े पशुओ के अतिरिक्त भेड़, गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, बदर, तोता, भालू, बिल्ली तथा मोर से भी सिंधु प्रांत-निवासी परिचित थे। इनमें से प्रायः सभी पशु-पक्षी खिलौनों के रूप में हैं। मुद्राओं पर बहुत ही कम पक्षी दीख पड़ते हैं। बिल्ली की कई हड्डियाँ हड़प्पा मे प्राप्त हुई हैं। मोहे जो दड़ो में बिल्ली का न तो कोई चित्रण मुद्राओं पर है और न कोई खिलौना ही मिला है। हड़प्पा में भी केवल एक उद्दाहरण है। श्री वत्स कहते हैं कि यह खरगोश का चित्रण भी हो सकता है। किंतु हड़प्पा-निवासी इस पशु से परिचित थे, यह वहाँ से प्राप्त हड्डियों से ज्ञात होता है‡। मिश्र देश की दतकथाओं में बिल्ली का बहुत वर्णन आया है। शायद आजकल ही की तरह सिंधु-प्रांत में भी बिल्लियो को लोग घरों में पालते थे। बदर से भी सिधु-प्रात-निवासी भली भाँति परिचित थे (चित्र स० २२)। एक सुदर उदाहरण मे एक बदर हाथ तथा पैरों से एक वृक्ष के तने को पकड़े है। अपनी

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०७।

† आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ६४।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० ३०१।

कौतूहलप्रद क्रीड़ाओं के कारण बंदर बच्चों के लिये बहुत प्रिय रहा होगा। बौद्ध जातकों तथा महाकाव्यों में भी बंदर का प्रमुख भाग है। हमारी धारणा है कि प्रागैतिहासिक काल में इस पशु से लोगों का वैसा ही प्रेम तथा स्नेह था जैसा कि आजकल भी चला आ रहा है।

गिलहरी के फियांस मे बने तीन अति सुंदर उदाहरण हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं। इनके ऊपर नीले रंग की पालिश पर काली रेखाओं का चित्रण है। प्रत्येक उदाहरण में गिलहरी पंजों से दबाए हुए किसी फल को खा रही है। प्रस्तर-निर्मित एक नेवला भी हड़प्पा मे प्राप्त हुआ है।

कुत्ते तथा शूकर आज दिन अपवित्र माने जाते हैं, किंतु प्राचीन काल में शायद उनका महत्त्व कुछ और ही था। कुत्ता तो आजकल ही की तरह अवश्य लोगों को प्रिय रहा होगा। यह शिकार खेलने तथा चौकसी करने के काम मे भी आता रहा होगा। इस पशु के कई खिलौने ताम्र, पीतल तथा मिट्टी के मिले हैं। कुछ उदाहरणों मे यह पशु गले से पट्टा जैसी कोई वस्तु पहने है। शूकर का चित्रण प्राचीन मिस्र की कब्रों पर भी मिलता है। मिस्र मे ये पशु प्रायः खाद-उत्पादन के लिये खेतों में छोड़ दिए जाते थे। कभी कभी ये वहाँ चंद्रमा को बलि भी दिए जाते थे*। सिंधु-प्रांत की खुदाइयों में शूकर के केवल जबड़े तथा दाँत प्राप्त हुए हैं। शायद पशु के सारे पंजर में ये दो चीजें ही कुछ काम की रही हों। किंतु आश्चर्य है कि सिंधु प्रांत में इस पशु की हड्डियों से बनी कोई वस्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। बलू-

---

* ज० रॉ० ए० सो०, १९२८, पृ० ६०७-०८।

मुद्राओं पर अधिकतर वे ही पशु चित्रित किए गए हैं जो गतिवान् और शक्तिशाली हैं। इन पशुओं में सभी धार्मिक महत्त्व वाले नहीं थे। कुछ पशु तो पूजे जाते, कुछ पवित्र माने जाते और कुछ केवल शौक के लिये पाले जाते थे। दती पशुओं के चित्र में शायद भिन्न भिन्न वाहनोंवाले देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया था।

इन पशुओं के बीच कहीं भी गाय और घोड़े का चित्रण नहीं है। वैसे तो एक खिलौने से ज्ञात होता है कि वह घोड़ा है*। इस खिलौने के पशु के कान टूट गए हैं। किंतु इसको घोड़ा मानने में शका होती है, क्योंकि घोड़े का एक भी और खिलौना नहीं मिला है। गाय वैदिक कालीन आर्यों की एक प्रकार की सपत्ति थी। इसी प्रकार घोड़ा भी सस्कारो और हवनों में विशेष स्थान रखता था। अश्वमेध यज्ञ तो बिना घोडे के हो ही नहीं सकता था। फिर शेर का चित्रण भी किसी मुद्रा पर नहीं है। इलम तथा सुमेर की कई वस्तुओं पर शेर का चित्रण है। मोहें जो दड़ो तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं में समानता है और इस कारण मोहें जो दड़ों में शेर का न होना आश्चर्य की बात है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की अनेक मुद्राओं पर बाघ का चित्रण है। हड़प्पा की एक मुद्रा पर बाघ के मुँह के नीचे एक तसला सा रखा है। दूसरे उदाहरण में बाघ एक शिरीष के वृत्त के नीचे है। यह पशु बड़ी लापरवाही के साथ बनाया हुआ है। विद्वानो का मत है कि हिंसक पशु होने के कारण कलाकार इस पशु का अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर सके थे। कहा जाता है कि सिंधु-प्रांत के कलाकार पहिले पशु-पक्षियों का अध्ययन

---

* आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७४।

कर लेते थे और तब मुद्राओं या पट्टियों पर उनका चित्रण करते थे।

क्या सिंधु-प्रांत में पशुबलि की प्रथा थी? एक दो उदाहरणों से तो ऐसा प्रमाणित होता है। पीतल का बना एक सुंदर बकरा है, जो एक बर्तन के अंदर सुरक्षित अवस्था में पाया गया था*। इस बकरे का गला एक खूँटे से बँधा है। शाक्त धर्म में पशु-बलि आवश्यक है और यदि सिंधु प्रांत में शाक्त धर्म का अस्तित्व था तो वहाँ पशुओं, विशेष कर बकरे की बलि अवश्य दी जाती रही होगी।

एक मुद्रा में किसी वृक्ष की झुकी टहनी के नीचे कोई देवी है। देवी के सम्मुख हाथ जोड़े एक मनुष्य घुटनों के बल झुका हुआ है। इसके पीछे एक बड़े आकार का बकरा है। यह बकरा या तो बलि दिया जा रहा है, या इसका देवी से परिचय कराया जा रहा है†। जहाँ तक संभव है, यह बलि का पशु नहीं है।

रा० ब० दयाराम साहनी ने हड़प्पा में पशुओं की हड्डियों का एक बड़ा ढेर प्राप्त किया था। इनमें भेड़, बैल, घोड़े आदि पशुओं की हड्डियाँ थीं। यह संभव है कि इस स्थान पर सामूहिक रूप से पशु-बलि दी गई रही हो‡।

हड़प्पा के शवागारों में एक पंजर के साथ एक भेड़ या बकरी का पंजर पड़ा था। यह पशु शायद बलि किया गया था। इसके शरीर के भी कई टुकड़े कर दिए गए थे§।

---

* आ० स० रि०, १९३०, पृ० ६२।

† वत्स—य० ह०, पृ० १६५।

‡ आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ७६।

§ वत्स—य० ह०, पृ० २२१।

प्राचीन काल के लोगों का विश्वास था कि मृतक को बकरी ही परलोक का रास्ता बतला सकती है। बकरी सरलता के साथ पहाड़ तथा जगल में स्वय अच्छी तरह से रास्ता ढूंढ़ सकती थी।

यह कहना कठिन है कि मोहें जो दड़ो में नर-बलि की प्रथा थी या नहीं। एक मुद्रा (जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं) से तो ज्ञात होता है कि एक स्त्री किसी देवी को बलि दी जा रही है, किंतु यह केवल अनुमान ही ह। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिधु-प्रात मे नर बलि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये दी जाती थी।

हड़प्पा मे कुछ ऐसे पंजर प्राप्त हुए थे जिनमें सिर कटे जान पड़ते हैं। इनमे कुछ तो जान-बूझकर ढेर मे रखे गए थे। इन मनुष्यों की मृत्यु कैसे हुई, यह बतलाना कठिन है। किंतु जहाँ तक सभव है, ये मनुष्य क्रूर तथा बर्बर जातियों द्वारा मारे गए थे। इनसे नर-बलि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

ऋग्वेद मे ४ यज्ञों—(१) राजसूय, (२) अश्वमेध, (३) पुरुषमेध तथा (४) सार्वमेध—का वर्णन है। इनमें से पुरुषमेध यज्ञ कभी किया गया था या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। ऋग्वेद के केवल एक मत्र से नरबलि पर कुछ प्रकाश पड़ता है*। कहा जाता है कि एक वार महाराज हरिश्चद्र रोगग्रस्त हुए। आचार्य ने उन्हें बतलाया कि वरुण को अपने पुत्र की बलि देकर आप रोग से उन्मुक्त हो सकते हैं। यह समाचार सुनकर राजा का पुत्र रोहित वन में चला गया और शुनःशेफ को वहाँ से नरबलि के लिये लाया। यज्ञ-मडप मे जब अजीगर्त स्वय शुनःशेफ को मारने के

* ऋग्वेद—१, २४, १।

लिये उठा, तो अंतिम समय देखकर शुनःशेफ ने बड़ी करुणा-जनक वाणी में भगवान् से रक्षा के लिये प्रार्थना की—

कस्य नून कतमस्या मृताना मनामेह चारुदेवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेय मातारं च ॥

किंतु भगवान् के सच्चे भक्त कभी ऐसी आर्तवाणी अपने मुँह से नहीं निकालते। इसलिये नरबलि के इस उदाहरण पर भी संदेह होता है। ईगेलिंग महोदय का कहना ठीक था कि पुरुषमेध केवल एक संस्कार-विधि के वर्णन को पूर्ण करने के हेतु रखा गया था। कार्य रूप में यह कभी परिणत नहीं किया गया था*।

नरबलि के बहुत ही कम उदाहरण बौद्ध जातक तथा ऐतिहासिक युगों† के साहित्य में पाए जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि नरबलि की प्रथा किसी युग में बर्बर जाति के लोगों के ही बीच प्रचलित रही होगी।

अनेक मुद्राओं तथा मिट्टी के बर्तनों पर वृक्ष या पत्तियों का चित्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत-निवासी वृक्षपूजा में भी विश्वास रखते थे। श्री दीक्षित को मिट्टी की एक ऐसी पट्टी मिली थी जिसमें वृक्षपूजा का स्पष्ट चित्रण है‡। इस पट्टी में एक ओर सिरे पर छः मनुष्य-आकृतियाँ खड़ी हैं। इनके नीचे बकरी द्वारा

---

* सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ४४, भूमिका ४१।

† गौड़वहो के अमर लेखक वाक्पति का कहना है कि यशोवर्म्मन् (दक्षिण-पूर्वी भागों में विजय-प्राप्ति के लिये जाते हुए, मिर्जापुर के निकट स्थित) विंध्यवासिनी देवी के मंदिर में, पूजा करने के हेतु टिके थे और इस मंदिर में विंध्यवासिनी देवी को नर-बलि दी जाती थी (देखिए, त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑव कन्नौज, पृ० १९७)।

‡ आ० स० रि०, १९२४-२५, पृ० ६५।

एक गाड़ी खींची जा रही है। दाईं ओर दो फाँकों में विभाजित एक वृक्ष है जिसके मध्य में कोई आकृति है। अनुमानतः यह आकृति वृक्ष की देवी है। ऊपर जो छः आकृतियाँ हैं वे संभवतः इस देवी के उपासक हैं।

एक दूसरी मुद्रा में वृक्ष की आत्मा का चित्रण है। वृक्ष, मुद्रा के दाएँ कोने पर, केवल दो टहनियों से दिखलाया गया है। ये टहनियाँ एक वृत्त के अदर से उत्पन्न हो रही हैं। इन टहनियों के मध्य में त्रिशूल-सदृश सींग धारण किए तथा बाजूबंद पहिने एक एक नग्न आकृति है। इसके सम्मुख फिर बाजूबंद पहिने तथा लवे बाल धारण किए एक दूसरी त्रिशृग आकृति है। आकृति के सींगों के बीच में पंख से मालूम देते हैं। सर जॉन मार्शल इसे दया का याचक कहते हैं। इस झुकी आकृति के पीछे एक पशु है जिसका मुँह तो मनुष्य जैसा है किंतु शरीर बैल तथा बकरे के समान है। मुद्रा के निम्न भाग में सात अन्य आकृतियाँ भी हैं। ये आकृतियाँ बालों को पीछे की ओर फेंके तथा घुटनों तक वस्त्र पहिने हैं। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि इस मुद्रा की टहनियाँ पीपल के वृक्ष का सकेत करती हैं और उनके मध्य की आकृति वृक्ष की आत्मा है। निम्नभाग की सात आकृतियाँ देवी के दूत हैं*।

भारत में चिरकाल से वृक्षों में देवी-देवताओं की आत्माओं के अस्तित्व का विश्वास रहा है। ऐतिहासिक युग में भारुत तथा साची की कला में, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से वृक्षों के साथ दिखलाई गई हैं। इन वृक्षों के साथ जो स्त्रियाँ दिखलाई गई हैं वे अपने उमड़ते सौंदर्य में हैं। वे प्रायः नग्न हैं, केवल कमर में एक मेखला

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ६३-६४।

पड़ी हुई है* । प्राचीन काल में स्त्रियाँ देवियों के रूप में थीं, किंतु साँची तथा भारुत की कला में स्त्रियों का स्थान उच्च नहीं था । वे इस कला में यक्ष-यक्षिणियो के रूप में दिखलाई गई हैं । इसका कारण शायद यह था कि बौद्ध धर्म का प्रचार अधिकतर ग्राम-समाज मे था और ग्रामीण लोग यक्ष-यक्षिणियों के महत्त्व को भली भाँति जानते थे† ।

कुछ मुद्राओं में ऐसे दृश्य हैं जिनमें वृक्ष वेष्टनियों से निकल रहे हैं । हड़प्पा में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं‡ । यहाँ से प्राप्त एक मुद्रा में शिरीष का वृक्ष एक वेष्टनी से घिरा हुआ है । दूसरे उदाहरण में वेष्टनी के अंदर एक वृक्ष है । यह वृक्ष एक छोटे चबूतरे पर खड़ा है । यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों में भी अनेक वृक्ष वेष्टनी के अंदर दिखलाए गए हैं§ ।

वेष्टनियों के अंदर पवित्र वस्तुओं को रखने की प्रथा बाद को भी भारत में चलती रही । पाली-साहित्य में वेष्टनी को पाकार (प्राकार) कहा गया है । इस प्राकार के अंदर कुछ वस्तुएँ, वृक्ष, मंदिर, किले या नगर रहते थे । इनमें से कुछ वस्तुएँ कुड्ड (दीवार) तथा पब्बत (पहाड़ियों) से भी घेरी जाती थीं+ । बुद्ध भगवान्

---

* कुमारस्वामी—यक्शाज, पृ० ३२ ।

† मजूमदार—ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम, जिल्द १, पृ० २४ ।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० १३७ ।

§ ऐलान—कैटलाग ऑव क्वायन्स इन ऐंशेंट इंडिया, भू० पृ० ३१ ।

+ दीघनिकाय—भा० १, ७८ ।

है। किंतु इस संबंध में यत्र-तत्र कुछ संकेत मिल ही जाते हैं। इन संकेतों से भी ज्ञात होता है कि वृक्षों में प्रायः गंधर्व तथा अप्सराएँ निवास करती हैं*। मनुष्यों की तरह वृक्षों की शादियाँ तक की जाती हैं। १६३१ ई० में मि० मैके को एक तावीज मिली थी, जिसमें शायद वृक्ष-पाणिग्रहण का दृश्य अंकित है। इस तावीज के एक ओर कुछ आकृतियाँ तथा चित्र-लिपि चित्रित है। दूसरी ओर पलटने पर विचित्र दृश्य दिखाई देता है। इस तरफ बाईं ओर एक मनुष्य बैठा है और उसके नीचे एक बाघ है। बाघ की दाईं ओर दो मनुष्य पेड़ों को हाथों में लिए हुए हैं। या तो यह दृश्य वृक्ष-पाणिग्रहण का संकेत करता है या ये दोनों मनुष्य वृक्ष को भूमि से उखाड़ रहे हैं। वृक्ष पर बैठी शायद वृक्षदेवी है†।

हिंदुओं की दृष्टि से अनेक वृक्ष अमर हैं। उनका विश्वास है कि युगों से ये वृक्ष चले आ रहे हैं और इनका कभी अंत नहीं होगा। जैसे वट-वृक्ष प्रयाग, पुरी तथा जयपुर में हैं। इनके दर्शनार्थ प्रतिवर्ष सैकड़ों यात्री भारत के भिन्न भिन्न भागों से जाते हैं।

अनेक ऐसी मुद्राएँ तथा ताम्रपट्टियाँ हैं जिनमें चित्रित दृश्यों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। यह संभव है कि ये घटनाएँ किसी देवपुरुष या देवियों के जीवन से संबंध रखती हों। आजकल ही की तरह उस काल में भी देवगाथाएँ चलती रही होंगी। उन्हीं में वर्णित कुछ दृश्य इन मुद्राओं या ताम्रपट्टियों में भी आ गए हैं।

---

* मैकडोनल—वैदिक मिथौलॉजी, पृ० १५४।

† आ० स० रि०, १६३०-३१, पृ० ६६।

एक समचतुरस्र ताम्रपट्टी में संभवतः वेबीलोन की देव-गाथाओं में वर्णित कोई देवपुरुष है। आकृति के सिर पर दो सींग हैं, पीछे एक पूँछ है। दाएँ हाथ में वह एक धनुष को थामे है। ऐसा जान पड़ता है कि इस आकृति का शरीर पत्तों से ढका है। ऐसी भूषा शिकारियों के ही बीच प्रचलित होती है और संभवतः इस मुद्रा में भी किसी शिकारी देवपुरुष का चित्रण है*।

एक मुद्रा में, एक मनुष्य बर्छी द्वारा एक भैंसे पर धावा कर रहा है। यह बर्छी विचित्र है। इस नमूने की कोई भी बर्छी सिंधु प्रांत में प्राप्त नहीं हुई है। इस धावे का क्या अर्थ है, यह बतलाना कठिन है। यदि धावा करनेवाला पुरुष कोई देवपुरुष नहीं है, तो यह कहना होगा कि सिंधु प्रांत में भैंसा पवित्र नहीं माना जाता था। यह भी संभव है कि भैंसा किसी विशेष संप्रदाय की पूजक वस्तु थी और इस पशु पर धावा करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी इस संप्रदाय के साथ शत्रुता थी†।

ऐसा ही अज्ञात दृश्य एक दूसरी मुद्रा पर भी है। इसमें एक ओर मचान पर बैठ कर एक मनुष्य बाघ के सदृश किसी पशु पर धावा कर रहा है। वहीं पर पैरों के निम्न भाग के बल पर तिपाई पर योगासन की मुद्रा में कोई आकृति बैठी है। यह आकृति कलाई से पखुरे तक कड़े पहने है। ऊपर की ओर अहाते के अंदर एक बकरा है। निम्न भाग में एक खरगोस सा पशु है। मुद्रा को उलटने से दूसरी ओर विचित्र दृश्य दीख पड़ता है। इस ओर बैल या त्रिशूल सहित एक स्तंभ है। कोई देवपुरुष इस बैल

---

†आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९५।

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १९९।

मोहें जो दड़ो मे पीतल की बनी नर्तकियों की मूर्तियाँ भी मिलो हैं। एक नर्तकी को सन् १९२७ ई० में स्व० रा० ब० दयाराम साहनी ने प्राप्त किया था (चि० सं० ३-१, २)। इस नर्तकी के हाथ भाव अभिव्यक्त करने की मुद्रा में हैं। पैरों से मालूम होता है कि नर्तकी ताल के आधार पर नृत्य कर रही है। नर्तकी के हाथ कड़ों से भरे हैं और वह गले में एक हँसली पहने है। इस नर्तकी को देवदासी माना गया है। इसके चेहरे पर सचमुच घृणा का भाव है। यह देवदासी नग्न है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में देवदासियाँ नहीं थीं; क्योंकि इनका उल्लेख न तो जातकों में है और न कौटिल्य के अर्थशास्त्र में। इनका सर्वप्रथम उल्लेख महाकवि कालिदास के मेघदूत में मिलता है*। काश्मीर के गायक कवि कल्हण ने भी मंदिर की नर्तकी का उल्लेख किया है†। जोगमारा गुफा-लेख में भी एक देवदासी का वर्णन है। इनसे ज्ञान होता है कि देवदासियाँ ईसा के बाद की शताब्दियों में अनेक मंदिरों में वर्तमान थीं।

श्री दीक्षित जी के मतानुसार यह स्त्री नीग्रो जाति की है। उसके अनुसार इस जाति की स्त्रियाँ प्रायः नग्न ही रहा करती थीं। यह जाति सिंधु-प्रांत की जातियों से भिन्न थी‡।

ऑव रीजेंट्स ऑव दि स्मिथसोनियन इस्टीट्यूट की जून ३०, १८९४ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

* मेघदूत १,३५।

† राजतरंगिणी, अ० ४, पृ० ४१९-२४।

‡ दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० २६।

चि० सं० २ (१)
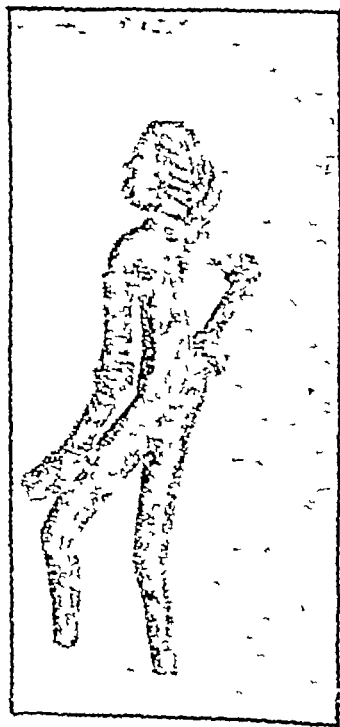
चि० सं० २ (२)

दूसरी मूर्ति मि० मैके को सन् १९३० ई० मे प्राप्त हुई थी। यह पहली मूर्ति से कई बातो में भिन्न है। इन दोनो मूर्तियों में प्रत्येक का एक एक हाथ कड़ों से लदा है। दोनों के पैर आवश्यकता से अधिक लंबे बनाए गए हैं। किंतु मि० मैके द्वारा प्राप्त मूर्ति किसी आधार पर टिकी थी, क्योंकि उसके पैरों के नीचे अभी तक कुछ ऐसे चिह्न वर्तमान हैं। श्री स हनी द्वारा प्राप्त मूर्ति की रूपरेखा दूसरी मूर्ति से भव्यतर है*।

मिट्टी की बनी दो मूर्तियाँ भी नर्तकों की सी जान पड़ती हैं। इनमें पैर जिस दशा में दिखलाए गए हैं उनसे अनुमान होता है कि वे भी नृत्य कर रही हैं। ऐसा नृत्य या तो किसी विशेष संप्रदाय के लोगों के बीच प्रचलित था अथवा किसी संस्कार या कर्मकांड के अवसर पर होता था†।

नृत्य के संकेत कुछ तावीजों पर भी मिलते हैं। फियांस के एक तावीज पर एक मनुष्य तो ढोल बजा रहा है और कुछ मनुष्य नृत्य कर रहे हैं। इस नृत्य का संबंध अवश्य किसी संस्कार कर्म या अन्य विधि से होगा‡।

भारत में नृत्य का इतिहास अति प्राचीन है। ऋग्वेद के कई मंत्रों से भी नृत्य पर प्रकाश पड़ता है।

यहाँ पर यह लिखना भी उचित होगा कि पीतल की बनी नर्तकियाँ शायद अथर्ववेद में वर्णित 'दासी' या संहिताओ में वर्णित 'शूद्रा' की तरह कोई दासपुत्रियाँ हों§।

---

* आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ६०।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० २६६।

‡ मैके—इं० सि०, पृ० ९३।

§ अथर्ववेद ५, २२, ६। तैत्तिरीय संहिता, ७, ४, १९, ३।

क्या सिंधु-प्रांत में गायन-वादन का भी प्रचार था? ऐसी उच्च सभ्यता के समाज में ललित कलाओं का होना असभव नहीं है। खेद है कि उर की खुदाइयों की तरह यहाँ कोई भी वाद्य प्राप्त नहीं हुए हैं। फियांस की एक मुद्रा पर ढोल सदृश कोई वस्तु है। इसको एक मनुष्य, जिसके चारों ओर और लोग हैं, बजाता दीख पड़ता है। हड़प्पा से प्राप्त एक दूसरे तावीज में बाघ के सम्मुख ढोल बजाए जाने का दृश्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सिधु प्रांत में ढोल के साथ साथ तार के वाद्य भी प्रचलित थे। दो मुद्राओं पर तो मृदंग की सी कोई वस्तु है। ढोल का सुदर चित्रण एक दूसरी मुद्रा पर है। इसमें एक स्त्री ढोल को अपने बगल में दबाए हुए है। मुद्राओ तथा तावीजों पर कुछ ऐसी वस्तुओ का चित्रण है जिन्हें वीणा माना जा सकता है। सिंधु प्रांत मे कांसताल भी बजाया जाता था*।

प्राचीन भारत में संगीत का उच्च स्थान था। ऋग्वेद के मत्र स्वय सगीतमय हैं। कहते हैं कि कैलाशपति भगवान् शकर ने सगीत को बढ़ाया और नारद ने उसे संसार को बतलाया। ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये सगीत बहुत बड़ा साधन है। संसार की कई जातियों ने इसे आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिये अपनाया है। इसलिये सगीत का प्रायः धर्म ही से सबध होता है।

यजुर्वेद सहिता तथा ब्राह्मण समाज में स्त्रियाँ सगीत से विशेष प्रेम करती दिखाई देती हैं। वे सदैव ऐसे व्यक्तियों से विवाह करने की इच्छा प्रकट करती हैं, जो सगीत से प्रेम रखता

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ३०।

हो*। उस तमय राजा तक सगीत में निपुण होते थे। मत्स्यपुराण से ज्ञात होता है कि वृष्णिवंशज राजा तैत्तिरी ने अपनी पुत्री को संगीत और नृत्य सिखलाया था†।

इस विखरी सामग्री ही से हम सिंधु-प्रांत-निवासियो के धर्म के विषय में थोड़ा बहुत जान सकते हैं। इस प्रात के निवासियो की तावीजों या जादू-टोनों पर विशेष श्रद्धा थी। इनपर शायद प्राक्कालीन देवी-देवताओ की जीवन-संबंधी घटनाएँ चित्रित हैं। यहाँ के निवासियो का जल, वृक्ष, मातृदेवी, शिव, नाग, लिंग तथा शक्ति की उपासना मे विश्वास था। योग की परिपाटियों से भी वे अभिज्ञ थे। सिधु-प्रात में वाहर की कई जातियाँ वसती थीं, और हम मान सकते हैं कि सिंधु-प्रांत-निवासियों के धर्म में वैदेशिक तत्त्व भी रहे होंगे। कदाचित यहाँ सांप्रदायिक पूजा भी होती रही हो।

साधारण पूजा के अतिरिक्त कुछ भक्तो ने योगवल द्वारा आध्यात्मिकता प्राप्त करने तथा अनंत ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न किया होगा। सिधु-प्रात निवासियों ने इस प्रकार गहन चिंतन की ओर भी पग वढ़ाए थे।

आधुनिक हिंदू धर्म की प्रणालियो और विश्वासों के साथ सिधुप्रांत निवासियों की धार्मिक प्रणालियों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत निवासियों का वास्तविक धर्म हिंदू धर्म ह था और आज का हमारा धर्म भी संभवतः उसी मूल से आया है यद्यपि समयानुसार वर्त्तमान हिंदू धर्म मे परिवर्तन भी हो गए हैं।

---

* तैत्तिरीय सहिता ६, १, ६५।

† मत्स्पुराण ४४, ६२।

षष्ठ अध्याय

कला-कौशल

जीवन में कला एक आवश्यक वस्तु है। केवल भोजन ही से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के सभी युगों में कला का मनुष्य-जीवन से कुछ न कुछ सबंध अवश्य रहा है। जहाँ इसकी कमी रही है उस समाज को जंगली या बर्बर कहा गया है। इसी लिये तो भर्तृहरिजी ने भी कहा है—

साहित्यसगीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।

अर्थात् संगीत, साहित्य तथा कला-रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।

हम देख चुके हैं कि सिंधु-प्रांत की सभ्यता अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थी। उस काल के लोगों ने प्रति दिवस काम आनेवाली वस्तुओं तक में अपना उच्च सौंदर्य तथा कला-प्रेम दिखलाया था। मुद्राओं, तावीजों तथा दो चार मूर्तियों के आधार पर ही हमें सिंधु-प्रांत की कला का विवेचन करना होगा।

सिंधु-प्रात में सैकड़ों मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनको तीन भागों मे विभाजित किया गया है—

(१) बच्चों के खिलौने

(२) मदिरों और देवताओं को भेंट की जानेवाली तथा पूजा की मृण्मूर्त्तियाँ

षष्ठ अध्याय

कला-कौशल

जीवन में कला एक आवश्यक वस्तु है। केवल भोजन ही से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के सभी युगों में कला का मनुष्य-जीवन से कुछ न कुछ संबंध अवश्य रहा है। जहाँ इसकी कमी रही है उस समाज को जंगली या बर्बर कहा गया है। इसी लिये तो भर्तृहरिजी ने भी कहा है—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।

अर्थात् संगीत, साहित्य तथा कला-रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।

हम देख चुके हैं कि सिंधु-प्रांत की सभ्यता अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थी। उस काल के लोगों ने प्रति दिवस काम आनेवाली वस्तुओं तक में अपना उच्च सौंदर्य तथा कला-प्रेम दिखलाया था। मुद्राओं, तावीजों तथा दो चार मूर्तियों के आधार पर ही हमें सिंधु-प्रांत की कला का विवेचन करना होगा।

सिंधु-प्रांत में सैकड़ों मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनको तीन भागों मे विभाजित किया गया है—

(१) बच्चों के खिलौने

(२) मदिरों और देवताओं को भेंट की जानेवाली तथा पूजा की मृण्मूर्त्तियाँ

चि० स० ३ चि० सं० ४

(३) खिलौने जो समाधियों में रखे जाते थे।

सिंधु-प्रांत की मृण्मूर्त्तियाँ अधिकतर कुरूप हैं और इन्हें एकाएक कला की वस्तुएँ मानने में संकोच होता है। किंतु फिर भी उनका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

सिंधु-प्रांत में मातृदेवी की बहुत सी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें आँखें कम चौड़ी हैं जो मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई हैं। नाक प्रायः बाद में जोड़ी जाती थी। नाक के दोनों ओर मिट्टी दबाकर गाल बनाए जाते थे। कुछ मूर्तियों में नथुने नहीं दिखलाए गए हैं। ऐसी मूर्त्तियाँ प्रायः खड़ी तथा नग्न हैं। कमर के नीचे केवल एक छोटी धोती पहनी जाती थी और कभी कभी इस धोती के ऊपर एक मेखला पड़ी रहती थी। कुछ उदाहरणों में सिर पर पंखे की तरह विचित्र शिरोवस्त्र है। कुछ मूर्तियों के कानों की ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं। इन प्यालों में घी या तेल की बत्ती जलाई जाती रही होगी; क्योंकि इन प्यालों पर आग की लपटों के चिह्न हैं*। ये प्याले भी किसी वस्तु से सिर पर बाँधे जाते रहे होंगे। पैर प्रायः जुड़े रहते थे। किसी भी उदाहरण में अँगुलियां नहीं दिखलाई गई हैं। अच्छी मूर्तियों में थोड़ा गड्ढा करके, फिर इसी गड्ढे पर मिट्टी की पत्ती रखी जाती थी। इस प्रकार इन मूर्तियों में होंठ तथा मुँह दिखलाए जाते थे। प्रायः सभी मूर्तियों में स्तन बहुत बड़े बनाए गए हैं। ऐतिहासिक युग की मूर्तिकला में भी स्त्रियों के विशाल स्तनों को महत्ता दी गई है और इस शैली की कतिपय विद्वानों ने तीव्र समालोचना भी की है।

पुरुष-आकृति की मृण्मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न हैं (चि० सं० ३)। इन मूर्तियों में भी शिरोवस्त्र तथा आभूषण हैं। सिर के बाल

---

* मैके—फ० च० मो०, पृ० २६०।

चि० सं० ३

चि० सं० ४

(३) खिलौने जो समाधियो में रखे जाते थे।

सिंधु-प्रांत की मृण्मूर्त्तियाँ अधिकतर कुरूप हैं और इन्हें एकाएक कला की वस्तुएँ मानने में संकोच होता है। किंतु फिर भी उनका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

सिंधु-प्रात में मातृदेवी की बहुत सी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें आँखें कम चौड़ी हैं जो मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई हैं। नाक प्रायः बाद में जोड़ी जाती थी। नाक के दोनों ओर मिट्टी दबाकर गाल बनाए जाते थे। कुछ मूर्तियों में नथुने नहीं दिखलाए गए हैं। ऐसी मूर्त्तियाँ प्रायः खड़ी तथा नग्न हैं। कमर के नीचे केवल एक छोटी धोती पहनी जाती थी और कभी कभी इस धोती के ऊपर एक मेखला पड़ी रहती थी। कुछ उदाहरणों में सिर पर पंखे की तरह विचित्र शिरोवस्त्र है। कुछ मूर्तियों के कानों की ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं। इन प्यालों में घी या तेल की बत्ती जलाई जाती रही होगी; क्योंकि इन प्यालों पर आग की लपटों के चिह्न हैं*। ये प्याले भी किसी वस्तु से सिर पर बाँधे जाते रहे होंगे। पैर प्रायः जुड़े रहते थे। किसी भी उदाहरण में अँगुलियां नहीं दिखलाई गई हैं। अच्छी मूर्तियों में थोड़ा गड्ढा करके, फिर इसी गड्ढे पर मिट्टी की पत्ती रखी जाती थी। इस प्रकार इन मूर्तियों में होंठ तथा मुँह दिखलाए जाते थे। प्रायः सभी मूर्तियों में स्तन बहुत बड़े बनाए गए हैं। ऐतिहासिक युग की मूर्तिकला में भी स्त्रियों के विशाल स्तनों को महत्ता दी गई है और इस शैली की कतिपय विद्वानों ने तीव्र समालोचना भी की है।

पुरुष-आकृति की मृण्मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न हैं (चि० सं० ३)। इन मूर्तियों में भी शिरोवस्त्र तथा आभूषण हैं। सिर के बाल

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० २६०।

प्रायः नारी से बाँधे जाते थे। सर जॉन मार्शल इन पुरुष-मूर्तियों को देवताओं की आकृतियाँ बतलाते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी मृण्मूर्त्तियाँ हैं जो बच्चों द्वारा बनाई गई हैं। ये लापरवाही से बनाई गई हैं और इस कारण इनका शिल्प अति साधारण है।

कुछ मृण्मूर्त्तियाँ मंदिरों में भेंट की जाती थीं। इस वर्ग की मूर्तियों में स्त्रियाँ बच्चों को स्तन पान कराती बनाई गई हैं। कुछ स्त्रियाँ गर्भवती और कुछ सिर पर रोटियाँ ले जाती हुई चित्रित की गई हैं।

सिंधु-प्रांत में इन मूर्तियों को बनाने का कोई ढाँचा प्राप्त नहीं हुआ है। केवल मुखारे ही ढाँचों में बनाए जाते थे। वास्तव में शुंग-काल से ही मृण्मूर्त्तियों के लिये ढाँचे बनने लगे।

पशुओं तथा पक्षियों के भी अनेक खिलौने सिंधु-प्रांत में प्राप्त हुए हैं। पत्थर और घोंघे के बने पशु कम हैं। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण सिंधु-प्रांत में घोंघे के पशु नहीं बनाए जाते थे। पीतल तथा ताम्र के बने खिलौने इने गिने ही हैं। किंतु इन धातुओं में अंकित पशुओं का सर्वथा यथार्थ चित्रण हुआ है। बैल तथा कुत्ते के कई सुंदर खिलौने प्राप्त हुए हैं। हंस के भी खिलौने बनते थे। इनपर भिन्न-भिन्न रंगों की पालिश की जाती थी। बतख का चित्रण भी भव्य है। मि० मैके इन बतखों की तुलना उर से प्राप्त बतखों से करते हैं। कछुए के भी तीन खिलौने प्राप्त हुए हैं। इनमें एक घोंघे का बना है।

पशुओं की आँखें बड़ी सुंदर बनाई गई हैं। यहाँ तक कि कौशल की दृष्टि से इन आँखों के बनाने में ही कलाकार अपनी सारी समझ और सूझ दिखला सके हैं*।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, चित्र ३ (४, ११, १५, १७)।

प्राय: सभी खिलौने अच्छी तरह अग्नि में पकाए गए हैं। इनके ऊपर लाल तथा चिकनी पालिश की जाती थी। वस्त्र तथा आभूषण मिट्टी की पट्टियों से अलग बनाकर चिपकाए जाते थे। ये पट्टियाँ पहले खिलौनों पर लगा दी जाती थीं फिर वे औजारों से ठीक कर ली जाती थीं। आँखें बनाने के लिये पहिले साधारण छिद्र बनाए जाते थे। इन छिद्रों के अंदर पुतली दिखलाने के लिये मिट्टी की पट्टियाँ रखी जाती थीं। कुछ पशुओं की आँखों पर पत्थर की खचित वस्तु भी रखी जाती थी। मातृदेवी की अनेक मूर्तियाँ पीछे से चिपटी हैं और संभवत: वे दीवारों के सहारे बैठाई जाती थीं।

मृण्मूर्त्तियों को बनाने की विशद प्रथा संसार के सभी प्राचीन देशों में देखी जाती है। नौसौस मे सर आर्थर इवेन्स को अनेक सुंदर मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थीं। फिर साईप्रस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों में भी ऐसे खिलौने मिले हैं। भास्कर शिल्प के उदाहरणों से सचमुच इनकी तुलना नहीं हो सकती किंतु जैसी आरामतलबी तथा कौतूहल-जनक कल्पनाओं से ये मूर्तियाँ बनी हैं वे अवश्य प्रशंसा के योग्य हैं।

भारत में ऐसे खिलौनों का इतिहास मोहें जो दड़ो काल से प्रारंभ होकर आज तक चला आ रहा है*। मौर्य, शुंग तथा गुप्त काल में अनेक सुंदर मृण्मूर्तियाँ बनीं। मौर्य युग के पूर्व के खिलौने दर्शनीय नहीं हैं पर मौर्य युग में खिलौनों में कुछ बारीकी आ गई थी। पटने में स्व० डा० जायसवाल को एक अति सुंदर,

---

* भारत के विभिन्न प्रांतों में लेखक ने आधुनिक मृण्मूर्त्तियों का अध्ययन कर यह धारणा स्थिर की है कि पूना तथा मथुरा में इस समय सर्वोत्तम मृण्मूर्त्तियाँ बनती हैं।

मौर्यकालीन स्त्री का धड़ प्राप्त हुआ था। इस धड़ की तुलना उन्होंने पटने की यक्षी से की है*। शुगकाल मृण्मूर्त्तिकला का स्वर्ण युग माना जा सकता है। इस समय ढाँचों का प्रयोग होने लग गया था। इस काल की मूर्त्तियो में प्रतिदिवस दीख पड़नेवाले अनेक दृश्य चित्रित किए गए हैं। ये दृश्य केवल मृण्मूर्त्तियों तक ही सीमित नहीं थे। इस युग की जितनी भी मूर्तियाँ तथा अन्य वस्तुएँ बनी हैं उन सब मे ऐसे दृश्य चित्रित किए गए हैं।

इन मृण्मूर्तियों से उस काल के जीवन तथा धार्मिक विश्वासों के विषय में हमको बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। माताओं तथा बच्चों के विशद चित्रण से मालूम होता है कि इन युगों में गृहस्थ-जीवन बड़ा सुखी था†।

इन मृण्मूर्त्तियों तथा पत्थर की मूर्तियों में भी समानताएँ हैं। कुषाण-काल में, पहले के वेदिकास्तंभों में अंकित स्त्रियों तथा शालभंजिकाओं की मिट्टी की प्रतिकृतियाँ बनाई गई। तक्षशिला के भीर टीले प्राप्त एक दूसरी मूर्ति की तुलना साँची के तोरण पर अंकित एक यक्षी से की जा सकती है। यह निर्विवाद है कि शुंगकाल की कई पत्थर की मूर्तियाँ प्रायः मौर्य युग की मृण्मूर्त्तियों के आधार पर बनी हैं‡। गुप्तकालीन मृण्मूर्त्तियो से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है§।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी कुम्हारों की अलग अलग मृण्मूर्तियों की दूकानें थीं। स्वयं कुछ कुम्हारों के बच्चे

---

* ज० इ० सो० ओ० आ०, जुलाई १९३६, पृ० ३३।

† ज० यू० पी० हि० सो०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

‡ इ० हि० क्वा०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

§ इडियन ऐंटिक्वेरी, अगस्त १९३९, पृ० १४३।

चि० स० १

मिट्टी के खिलौने बनाया करते रहे होंगे। जैसा पहिले कहा जा चुका है, अनेक खिलौनों का निर्माण बच्चों के हाथों से हुआ है। प्राचीन यूनान में भी कई खिलौने बच्चों द्वारा बनाए जाते थे*।

फिर भी हमारे सम्मुख एक विडंबना उपस्थित होती है। यदि इन मृण्मूर्तियों में अधिकतर बच्चों के खिलौने थे, तो यह प्रश्न होता है कि कैसे बच्चे इन कुरूप खिलौनों को पसंद करते रहे होंगे। बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुंदर वस्तुओं की ओर लपकने की होती है। हमारा अनुमान है कि उस काल में मृच्छिल्प अपने शिशु काल में था और इसलिये भद्दे होने पर भी उस काल के बच्चे इन खिलौनों को अपना लेते थे।

मोहें जो दड़ो में एक पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसको श्री रामप्रसाद चंदा योगी की तथा मि० मैके पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं। इस मूर्ति में केवल धड़ ही बाकी रह गया है। यह पुरुष-आकृति दाढ़ी पहिने है, किंतु होंठ का ऊपरी भाग साफ है। दाएँ हाथ में अलक या भुजबंध सदृश कोई आभूषण है, शरीर में एक त्रिपत्र ढंग का वस्त्र है (चि० सं० १)। प्राचीन बेबीलोन के पुरोहित ऐसे ही ढंग के वस्त्रों को पहिनते थे।

इस मूर्ति की आँखें अधखुली हैं। वे नासिका के अग्रभाग में स्थित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्रों में कोई खचित पदार्थ रखा था†।

आदिपुराण में योगी की आँखों के लिये लिखा है‡—

नात्युन्मिषन् न चात्यंतनिमिषन्

---

* मरे—ए हैंड बुक ऑव ग्रीक आर्क्योलॉजी, पृ० ३२७।

† आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९१।

‡ आदि पुराण, ११, ६२।

अर्थात् योगी की आँखें न तो पूरी वद ही होनी चाहिए और न पूरी खुली। इस मर्ति की आँखें अधखुली हैं और इसके आधार पर श्री० चदा इसे योगी की मूर्ति वतलाते हैं*।

यहाँ पर इस मूर्ति के शरीर की त्रिपत्र भूषा के विषय में भी कुछ कहना उचित होगा। कतिपय विद्वानों ने कहा है कि यह त्रिपत्र शैली केवल वृत्तों के समन्वय से बनी है। यह धारणा ठीक ही है। यह शैली फारस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों को भली भाँति ज्ञात थी। हड़प्पा की कई गुरियो पर इस शैली का चित्रण हुआ है†। श्री वत्स को यह शैली कई अन्य आभूषणों पर भी दीख पड़ी थी। उन्होंने रजत का एक ऐसा आभूषण पाया था, जिसमें सोने की टोपी वाली खड़िया मिट्टी की गुरियो की जड़ाई द्वारा यह त्रिपत्र शैली वनाई गई थी‡।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्त्तियों पर सजावट के लिये रंग भी लगता था। इस योगी की मूर्त्ति के त्रिपत्र अलंकरण में भी लाल रग लगाया गया था।

एक अलवास्टर की बनी दूसरी पत्थर की मूर्ति भी मोहें जो दड़ो में पाई गई है। इसमें आकृति घुटने ऊपर की ओर मोड़कर वैठी है। हाथ घुटनों पर स्थित हैं और चेहरा बहुत लवा है। नाक भी आवश्यकता से लवी वना दी गई है। आकृति के चेहरे पर एक नुकीली दाढ़ी है। संभवतः इस आकृति की आँखो के गड्ढो पर खचित वस्तु रखी गई थी§। इसी के साथ एक दूसरे

---

* मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १६३२, पृ० १५८।

† वत्स—य० ह०, पृ० ३६६।

‡ आ० स० रि० १६२८-२६, पृ० ७६।

§ आ० स० रि०, १६२५-२६ पृ० ८५

सिर का उदाहरण है। यह आकृति भी दाढ़ी पहिने है। इसमे केशों की सुंदर व्यवस्था की गई है। बाल शायद नारों द्वारा बाँधे गए थे। इस मूर्ति में नाक ऊँचा तथा गाल उठे हुए से हैं*।

स्त्रियो के भी कुछ सुंदर सिर मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुए हैं। एक लगभग साढ़े पाँच इच ऊँचा सिर है। इसके बाल घुंघराले हैं। दाहिनी आँख में, जो कि विचित्र ढंग से बनाई गई है, श्वेत रग दीखता है। पीले चूने के पत्थर का एक दूसरा सिर है। इसमें पीछे की ओर एक गाँठ है। मुँह छोटा है और होंठ अधिक मोटे हैं। इसका माथा भी छोटा है। यह ज्ञात नहीं हो सका है कि यह मूर्ति स्त्री की है या पुरुष की। दाढ़ी के न होने से तो यही ज्ञात होता है कि यह मूर्ति किसी स्त्री की है। अंतिम युग में बनी एक दूसरी मूर्ति है। इसके वक्षस्थल पर कोई मोटा रुईदार कपड़ा बँधा है। किंतु साथ ही एक शाल भी है जो कि बाँई बाँह से होकर दाईं बाँह के नीचे पड़ा है। इस मूर्ति का गला बड़ा मजबूत है किंतु माथे और गाल की हड्डियाँ चिपटी हैं।

सबसे महत्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियॉ हड़प्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें एक लाल तथा दूसरी नीले-काले पत्थर की बनी है। इनके अंग भग हो गए हैं, किंतु धड़ अभी ठीक अवस्था में है। लाल पत्थर की मूर्ति में मासपेशियॉ बड़े ही सुदर ढंग से दिखलाई गई हैं (चि० स० २३)। पेट, जैसा कि प्राय: बाद की भारतीय कला मे भी दीख पड़ता है, कुछ उठा हुआ है। कुहनियो पर गोलाकर छिद्र बने हैं। ये छिद्र किसी गोल बर्मे से बनाए जाते रहे होंगे। संभवत. शरीर के भिन्न भिन्न अवयव अलग अलग बनाकर फिर सीमेंट से जोड़े जाते थे। नीले पत्थर मे अकित मूर्ति तो किसी

---

* वही पृ० ८१-८२।

नर्तक की जान पड़ती है। इस मूर्ति का गला बहुत भारी है। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि इस मूर्ति के शायद तीन सिर थे, और यह प्रागैतिहासिक युग के शिव की मूर्ति रही होगी*।

इन मूर्तियो से ज्ञात होता है कि उस काल के कलाकारों का छेनियो तथा अन्य हथियारों पर कितना अधिकार था। साथ ही हम कहेंगे कि उन्हें मनुष्य-शरीर के अंग-प्रत्यगो का सुदर ज्ञान था। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते हैं कि "ई० पू० चौथी शताब्दी का कोई भी यूनानी कलाकार इस मूर्ति को स्वनिर्मित कहने में गौरव समझता।" वास्तव में जहाँ तक शरीर सौष्ठव तथा सुंदरता का प्रश्न है वहाँ तक तो यूनान की कला का कोई पार नहीं पा सकता। वहाँ की कला में भी आध्यात्मिक भाव नहीं आए। यूनानी लोगो ने कलाओं के द्वारा भगवान् तक पहुँचने का कभी स्वप्न तक नहीं देखा। मनुष्य-सौंदर्य के ही चारों ओर उनकी कलात्मक प्रवृत्ति घूमी।

मोहें जो दड़ो में प्राप्त अन्य मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से निम्न कोटि की हैं। उनके बीच में में इन हड़प्पा की मूर्तियो का होना एक रहस्य सा मालूम होता है। यदि हम यह मानें कि ये मूर्तियाँ ऐतिहासिक युग की हैं, और अकस्मात् ही इस तह मे चली गयी हैं तो हमें इसमें सदेह होता है। क्योकि जिस तह में ये मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उस तह में ऐतिहासिक युग की कोई दूसरी वस्तु नहीं मिली है। दूसरे, जैसा कि सर जॉन मार्शल कहते हैं इस शैली की मूर्तियाँ कभी ऐतिहासिक युग में नहीं बनीं। अब तक मौर्य, शुग, तथा गुप्त काल की सैकड़ों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, किंतु किसी भी मूर्ति में शरीर के अंग अलग से बनाकर नहीं जोड़े गए हैं। इन

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

युगों की पूर्ण मूर्तियाँ समूचे पत्थरों की बनी है। हड़प्पा की मूर्तियों में तो हाथ और सिर संभवतः सीमेंट आदि पदार्थों से जोड़े जाते थे। फिर हड़प्पा की मूर्तियो मे कुहनी पर हाथों के लिये जो छिद्र बने हैं वे गोल हैं और शायद बर्मे द्वारा बनाए गए हैं। छिद्र करने का यह ढंग भी सर्वथा नवीन है। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक युग मे हड़प्पा की मूर्तियो के नमूने के पत्थरों की मूर्तियाँ कभी नहीं बनीं। इन सब बातो से ज्ञात होता है कि हड़प्पा की मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक युग की ही हैं*। संभवतः उस युग मे हड़प्पा मे भी उसी सूझ तथा ज्ञान के कलाकार थे, जैसे ई० पू० चौथी शताब्दी मे यूनान में उत्पन्न हुए थे। केवल इन दो मूर्तिनो और नर्तकियो की मूर्ति के अतिरिक्त मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में कोई अन्य मूर्ति नहीं कोरी गई है। अन्य मूर्तियाँ अति साधारण हैं। किंतु उस समय एक कला-शाखा ने कला में खूब उन्नति कर ली थी, दूसरी शाखा अपने शिशु काल मे थी। कालांतर मे यही परपरा यक्ष-मूर्ति-समूह, भारुत, साँची, अमरावती तथा मथुरा की कला में अवतरित हुई।

प्राचीन सिंधु-प्रांत मे मूर्तियो की आँखो तथा अन्य सजावटों के लिये खचित वस्तुओ का प्रयोग भी होता था। कुछ आँखों में तो पत्थर और कुछ में घोघे के टुकड़े लगे थे। यह शैली मिस्र तथा सुमेर के लोगों को भी ज्ञात थी।

पीतल की नर्तकियो का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। किंतु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं है। पीतल की एक नर्तकी को तो देवदासी माना गया है। संभवतः उस काल के नृत्य अधिकतर धार्मिक ही होते थे। आजकल उदय-

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ५०८।

शंकर, कथाकाली तथा शांतिनिकेतन और जयपुर के कलासम्प्रदाय नृत्य का प्रचार केवल कला की दृष्टि से करते हैं।

बाजूबंद, कंठहार, बड़े हार, चूड़ियाँ, भुजबंध, अंतक, अँगूठियाँ इत्यादि वस्तुएँ बड़ी मनोहर हैं। इनकी निर्माणशैली देखते ही बनती है। आभूषणों का व्यवहार प्रत्येक वर्ग के लोगों में था। श्री दीक्षित तथा साहनी महोदय को चांदी की कल्सियों मे जो आभूषण मिले थे उनकी वर्णछटा अति सुंदर है। बड़े हारों पर भिन्न भिन्न रगों की सुंदर गुरियो तथा स्वर्ण की पट्टियो का प्रयोग हुआ है। आभूषणों में बहुमूल्य पत्थरों का कम प्रयोग हुआ है। गोमेदसन्निभ तथा लाल गोमेदा की गुरियाँ ही अधिकतर प्रयुक्त हुई हैं। सभवतः लाल गोमेदा की गुरियाँ चन्हू दड़ो में बनाई जाकर उर तथा सूसा को भी भेजी जाती थीं। मोहें जो दड़ो की आवश्यकताओं की पूर्ति भी शायद चन्हू दड़ो ही करता थाः*।

मोहें जो दड़ो में थोड़ी अलकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। एक समय इस शैलो की गुरियों का मेसोपोटेमिया, फारस तथा सूसा में बड़ा प्रचार था। इन गुरियों पर काले या सफेद रग से कारीगरी की जाती थी। ऐसी गुरियाँ मोहें जो दड़ो में खड़िया पत्थर से बनी हैं। पहिले खड़िया पत्थर पर पकाए गेरुए रंग से पालिश होती थी और इसके बाद फिर चित्रण होता था†। फारस में तो इस शैली की गुरियाँ आज तक भी बनती हैं। सिंधु-प्रांत के सेह्वान नामक स्थान में मि० मैके ने एक व्यक्ति से इस शैली की गुरियों के सबंध मे बातचीत की थी। उस व्यक्ति ने मि० मैके को बतलाया कि हैदराबाद (सिंध) में

---

* आ० स० रि०, १९३५-३६, पृ० ४२।

† ऐंटिक्वेरीज जर्नल, जनवरी १९२९, जि० ९, पृ० ४६१।

केवल एक ही मनुष्य इस कौशल को जानता था, किंतु उसकी अब मृत्यु हो गई है। समस्त सिंधु-प्रांत में अब उस व्यक्ति का पुत्र ही इस कौशल को जानता है*। सिंधु-प्रांत में लाल गोमेदा की अलकृत गुरियॉ वाद में भी वनी थीं किंतु वे साधारण हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये गुरियाँ तव वनी थीं जब मोहें जो दड़ो की महत्ता फीकी पड़ चुकी थी।

कुछ गुरियों में खचित पदार्थ भी रखा जाता था। इनसे सचमुच इन गुरियों की सुंदरता वढ़ती रही होगी। कितनी ही गुरियों में त्रिपद शैली का चित्रण है और गुरियों में वर्म की तरह किसी औजार से गहरान किया जाता था। वाद मे गहरे स्थानों में रंग भरा जाता था†।

सिखारी में वनी वहुत सी गुरियॉ सिंधु-प्रांत तथा हड़प्पा में प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ तो वास्तविक पत्थरों की वनी हैं, पर कुछ अन्य पदार्थों की वनी हुई हैं। उनको गरम करने से उनका रंग श्वेत हो गया था। इनमें वहुत सी गुरियाँ विभिन्न रंगों से चित्रित थीं। यह वात विशेष महत्त्व की है कि सिखारी गुरियों को रंगने की प्रथा मेसोपोटेमिया, मिस्र तथा क्रीट के लोग नहीं जानते।

गुरियों को रॅगने के लिये प्रधानतया नीला रंग ही उपयुक्त समझा जाता था। इनको चमकाने का प्रयत्न भी वाद में किया जाता था।

निर्धन समाज के लोग मिट्टी की वनी गुरियों को ही प्रयुक्त करते थे। ये अति साधारण हैं। इनमे किसी भी प्रकार की

---

* 'मैन', जिल्द ३३, सितम्बर १९३६, पृ० १४३-४४।

† वत्स—य० ह०, पृ० ५०८।

कारीगरी नहीं है। हाँ, कभी कभी इनपर कुछ रगो से पालिश अवश्य कर दी जाती थी।

सोने की कम गुरियाँ प्राप्त हुई हैं। ये प्रायः आभूषणों के समूहों के साथ थीं। सभवत. मूल्यवान होने के कारण ये कम बनाई जाती थीं। चाँदी तो सिंधु-प्रांत निवासियों को उपलब्ध थी, किंतु फिर भी चाँदी की थोड़ी ही गुरियाँ बनी थीं। शायद उस काल के लोग रग-बिरगी गुरियों को ही अधिक पसंद करते थे। ताम्र तथा पीतल की गुरियों का अच्छा प्रचार था। इन धातुओ से मालाओं के बीच के लिये अतक आदि बना करते थे।

अनेक गुरियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरो को जोड़कर बनाई जाती थीं। यह शैली ससार के किसी अन्य देश को ज्ञात नहीं थी।

कुछ गुरियों पर सोने की टोपियाँ भी पहनाई जाती थीं। ससार के और देशो में तो इस प्रकार की स्वर्ण टोपी सहित गुरियों का बड़ा प्रचार था। मेसोपोटेमिया तथा मिस्र देश में टोपियो सहित गुरियों की शैली बहुत प्रचलित थी।

गुरियाँ कई आकारों की होती थीं। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे आकारों में भी वे सिंधु-प्रांत में प्राप्त हुई हैं। इनके लिये पत्थर भारत के भिन्न भिन्न भागो तथा भारत से बाहर के देशों से भी आते रहे होंगे। सिखारी पत्थर भारत के कई स्थानों में पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में सभवतः यह राजपूताना, मैसूर, मदरास, जबलपुर तथा विहार-उड़ीसा से प्राप्त किया जाता था। वैदूर्य तो निस्सदेह अफगानिस्तान के बदख्शां प्रात से आता था। सु दर हरा अमेजन पत्थर नीलगिरि की पहाड़ियो के निकट दादावेटा या काश्मीर से प्राप्त किया जाता रहा होगा। लाल

गोमेदा काश्मीर के रुदक प्रदेश, काठियावाड़ तथा राजपीपला रियासत से प्राप्त किया जाता था। लाल गोमेदा की गुरियों का प्रचार अधिक था। संभवतः सिंधु-प्रांत में बहुत सी गुरियाँ फारस से भी आती थीं*। घोंघे की भी कुछ गुरियाँ बनी थीं। लाल अपारदर्शक गोमेद की भी गुरियाँ थीं। यह पत्थर मारवाड़ तथा बिजावर के कुछ स्थानों में पाया जाता है। मोहें जो दड़ो में यह पत्थर राजपूताना से ही आया रहा होगा।

नील लोहित स्फटिक, दक्षिण पठार तथा बिहार-उड़ीसा से प्राप्त किया जाता था। इसकी भी सुंदर गुरियाँ बनी थीं। लाजवर्द की बहुत कम गुरियाँ बनी थीं। जामुनी स्फटिक बिहार-उड़ीसा तथा दक्षिणी पठार के कुछ भागों में पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में संभवतः दक्षिणी पठार ही से यह पत्थर आता था। गोमेदसन्निभ, पलनाद के निकट गोदावरी के पुलिन से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

स्वर्ण तथा रजत की भी अनेक वस्तुएँ मोहें जो दड़ो और हड़प्पा में प्राप्त हुई हैं। स्वर्ण तो भारत ही के किसी भाग से प्राप्त किया जाता रहा होगा। दक्षिण भारत (मैसूर) मे स्वर्ण की अनेक खानें हैं। कोलर के स्वर्ण में कुछ रजत-तत्व भी होता है। ऐसा ही मिश्रित स्वर्ण मोहें जो दड़ो का भी है। अनंतपुर से भी स्वर्ण मँगाया जाता रहा होगा। रजत का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। स्वर्ण की अपेक्षा अधिकतर बड़ी वस्तुएँ रजत की ही बनती थीं। रजत भागलपुर, मानभूम, मुँगेर तथा बिहार-उड़ीसा के सिंहभूम प्रदेशों से प्राप्त किया जाता था। कुछ रजत के आभूषणों मे सीसा भी मिला हुआ है। मैसूर तथा

---

* ऐंटिक्विटी, दिसंबर १९३१, पृ० ४६१।

मद्रास में भी रजत की खानें थीं, किंतु यहाँ का रजत स्वर्ण-मिश्रित है। यदि मोहें जो दड़ो निवासी धातुओं को अलग अलग करने की विधि जानते थे तो निश्चित है कि सिधु-प्रांत में रजत और स्वर्ण दक्षिण से ही यहाँ आता था*।

ताम्र बलूचिस्तान के पश्चिमी भाग, अरब और अफगानिस्तान के दक्षिण में पाया जाता है। भारत में ताम्र की खानें अजमेर, सिरोही, खेतड़ी तथा मेवाड़ में हैं। इन्हीं स्थानों से मोहें जो दड़ो में रजत आता रहा होगा।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में पीतल की भी कई वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। पीतल की कुछ वस्तुएँ साँचों पर ढाली जाती थीं, कुछ पिटी चद्दरों से बनती थीं और कुछ समूचे टुकड़ों से बनाई जाती थीं। सिंधु-प्रात में ताँबा और पीतल साथ साथ चलते थे, इसी कारण इस सभ्यता को भी नवीन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। मार्शल साहब की धारणा ठीक हा है कि सिंधु-प्रांत निवासियों को पीतल कम मात्रा मे प्राप्त था।

सन् १९०५ ई० मे मि० वी० ए० स्मिथ ने एक लेख मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि भारतीय सभ्यता में कभी पीतल का युग नहीं आया। उस समय केवल थोड़ी सी वस्तुएँ दक्षिण भारत के शवस्थानो में मिली थीं। इनको भी स्मिथ साहब ने बाद के युग का बतलाया। उन्होंने यह भी कहा था कि भारत में पीतल की जो वस्तुएँ हैं वे या तो बाहर से आई है, या अकस्मात् ही भारत में बन गई हैं†। किंतु आज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों ने इस बात को प्रमाणित

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ६७५।

† इंडियन ऐंटिक्वेरी १९०५, पृ० २२६।

कर दिया है ५००० वर्ष पूर्व भी भारतवासी पीतल से अभिज्ञ थे और अन्य संसार की सभ्यताओं की तरह उनकी सभ्यता भी पीतल के युग के अंतर्गत आई थी।

सीसे का सिंधु-प्रांत में कम प्रयोग हुआ है। यह शायद अजमेर की खानों, विहार-उड़ीसा तथा मद्रास से यहाँ आता रहा होगा। पश्चिम में अफगानिस्तान की घोरबंद घाटी मे स्थित फारंजल नामक स्थान में भी सीसे की खानें थीं। किंतु मार्शल साहब के अनुसार मोहें जो दड़ो में सीसा अजमेर से आया रहा होगा।

टीन सिंधु-प्रांत में पृथक् धातु के रूप मे प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्रायः तीक्ष्ण धारवाले औजारों या हथियारों के लिये उपयुक्त समझा जाता था। टीन हजारीवाग प्रदेश या फारस के उत्तर-पश्चिम में कारादाग प्रदेश से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

हाथीदांत की वस्तुएँ कम प्राप्त हुई हैं। समस्त खुदाइयो मे अभी तक हाथीदाँत के दो दाँत प्राप्त हुए हैं। हाथी की हड्डियों से जुड़ाई या खचित टुकड़े भी बनाए जाते थे। एक विचित्र हाथीदाँत का टुकड़ा है जो कि किसी बर्तन के ढकने पर रखा रहा होगा। इस टुकड़े के ऊपर एक दूसरे को काटते हुए वृत्त बने हैं। कभी कभी हाथीदाँत की बड़े आकारों की वस्तुएँ भी बनती थीं*। दुवके हुए भेड़ो और कुत्तों के जो खिलौने प्राप्त हुए हैं उनके शरीरों के मध्य में छिद्र है। इनको शायद माला के रूप में पिरोया जाता था। ये खिलौने क्रीड़ाशील कल्पना के सुंदर उदाहरण हैं।

सिंधु-प्रांत निवासियों की वेश-भूषा का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। आभूषण वनाने में इस प्रांत के निवासियों ने विशेष कुशलता प्राप्त की थी। उनके भिन्न-भिन्न रूपों में वनाने की शैली

---

* मैके—इं० सि०, पृ० १७१-७२।

तथा रंगों का चुनाव उच्च कोटि के कलाकारों का ही कार्य हो सकता है। इन सब बातों को देखकर हमें यह कहने में संकोच नहीं होता कि सिंधु-प्रांत-निवासियों का जीवन कलामय था।

सिंधु-प्रांत की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिंधु-कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ये मुद्राएँ या तो वर्गाकार हैं या समचतुरस्र। अधिकतर मुद्राएँ सिखारी की बनी हैं। पहले ये आरी से काटी जाती थीं और फिर चाकू से कोने आदि ठीक किए जाते थे। बाद को चमकाने के लिये इन्हें किसी पदार्थ से माँजा जाता था। अंत में इनके ऊपर पालिश की जाती थी। इनपर कई पशुओं का चित्रण है किंतु कला के सर्वोत्तम उदाहरण कूबड़दार बैल, भैंस तथा नीलगाय के चित्रण में दीख पड़ते हैं। इनका यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने पहले पशुओं के प्रत्येक अंग का अध्ययन कर लिया था और इसके बाद ही उसने अपनी छेनी उठाई थी। इन उदाहरणों से कलाकारों की सत्यनिष्ठा तथा पर्यवेक्षण-शक्ति स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। ये कलाकार यह भी भली भाँति जानते थे कि कला का सौंदर्य से क्या संबंध है और किस प्रकार सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला में होनी चाहिए। पशुओं का ऐसा सजीव, स्वाभाविक तथा गौरव- पूर्ण चित्रण बाद की अशोककालीन कला में भी हुआ है।

वास्तव में पशुओं की इतनी सुदृश मांस-पेशियाँ यूनान की ही कला में सर्व प्रथम दीख पड़ती हैं। यह कहना ठीक ही है कि मोहें जो दड़ो की यह कला हमारे सम्मुख परिपक्व रूप में आती है। इसका जन्म तो इसके सैकड़ों वर्ष पूर्व हो गया रहा होगा।

मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की मूर्तियों की शैली पर ही बनाई जाती थीं। बैल का एक सुंदर सिर प्राप्त हुआ है। इसमें

आँख, कान तथा सींगों के लिये छिद्र बने हैं। आँख, कान तथा सींग अलग अलग बनाकर जोड़े जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिर भी चिपटी वस्तु के साथ सीमेंट द्वारा जोड़ा गया था। बैल के बाल कुशलता-पूर्वक दिखलाए गए हैं।

पशु, पक्षियों तथा मूर्तियों की सुंदरता को बढ़ाने के लिये खचित वस्तुओं का प्रयोग होता था। ये खचित वस्तुएँ कीमती पत्थर, हाथीदाँत तथा घोंघे की बनती थीं। प्रायः जैसलमेर के लाल और पीले पत्थर और अलबास्टर से ही खचित टुकड़े निकाले जाते थे। ये टुकड़े भिन्न भिन्न रूपों में काटे जाते थे। छोटी छोटी गुरियों तक में ये खचित टुकड़े रखे गए थे। एक दो गुरियों में तो सुंदर पँखड़ियों के खचित टुकड़े जुड़े थे।

पशु-आकृतियों के लिये ताम्र तथा पीतल का प्रयोग भी होता था। पीतल तो शायद उसी ढंग से तैयार किया जाता था जैसा बाद में नालंदा विहार के कारीगर तैयार करते थे*। किंतु यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु-प्रांत में एक वर्ग के लोगों ने धातु-विज्ञान में अवश्य कुशलता प्राप्त कर ली थी।

हड़प्पा में चौदह भाड़ भी खुदाई में निकले हैं। ये भिन्न भिन्न ढंगों से बनाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भाड़ों से भिन्न भिन्न मात्रा की गर्मी पदार्थों में पहुँचाई जाती थी। इनमें मिट्टी के बर्तन नहीं पकाए जाते थे। संभवतः इनमें धातु के बर्तन, फियांस की मुद्राएँ और पट्टियाँ, कार्निलियन गुरियाँ तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ डाली जाती थीं।

मोहेंजो दड़ो, हड़प्पा और सिंधु-प्रांत के अनेक स्थानों से मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। ये बर्तन प्रायः कुंभ पर बनाए जाते

---

*दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ५४।

थे। खेद है कि अभी तक कुंभकार के कोई चाक सिंधु-प्रांत की खुदाइयों में नहीं मिले हैं। ६७ फीट वाले कई भट्ठियों के घेरे इधर उधर दीखते हैं। मिट्टी निकट के ही स्थानों से ली जाती थी। इस मिट्टी में कभी बालू, कभी चूना, और कभी दोनो पदार्थ मिले रहते थे। सिंधु प्रात के मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे। एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल या पीले रंग की पालिश होती थी। इनपर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की गई है। सिंधु-प्रांत में सर्वप्रथम ऐसे बर्तन आम्री में, जो मोहें जो दड़ो से ८० मील दक्षिण है, प्राप्त हुए थे। इन बर्तनों पर काले या चाकलेट रग से बेल-बूटे बनाए जाते थे। ऐसे बर्तनों पर गले नहीं बनाए गए थे।

दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के बने हैं। इन वर्तनों पर लाल रग की पालिश थी और इनके ऊपर काले रग से बेल-बूटे, किए गए थे। बर्तनों की पालिश कभी कभी गेरुए रग की होती थी। गेरू गच मध्यप्रदेश में पाया जाता है, किंतु मि० मैके कहते हैं कि सिंधु-प्रात में गेरू हरमुज (फारस की खाड़ी) से आता था। इस वर्ग के बर्तनो पर रेखागणित के चिह्न नहीं हैं। कितने ही ऐसे वर्तन हैं जिनके ऊपर दूसरा रंग नहीं चढ़ाया गया था। इस ढंग के अधिकतर बर्तन मोहें जो दड़ो में ही मिले हैं। सिंधु-प्रांत के अन्य स्थानों जैसे चन्हू दड़ो,गाजीशाह जो कोटिड़ो आदि के निम्न स्तर में भी ऐसे बर्तन पाए गए हैं। अन्य स्थानों के वर्तनों पर न तो रंग की पालिश है और न कोई कारीगरी ही।

वर्तनों को पकाने से पहले कूँचियों द्वारा बूटे बना दिए जाते थे। ये वेल-वूटे बड़े रमणीय तथा हृदयग्राही हैं। हड़प्पा के शवस्थानों में प्राप्त बर्तनों की चित्रकारी तो बड़ी ही सुंदर है।

इन वर्तनों पर ताड़ तथा शिरीष के पत्तों का चित्रण है। अनेक वर्तनों पर पीपल की पत्तियो का चित्रण भी दीख पड़ता है। चन्हू दड़ो से प्राप्त वर्तनों पर पीपल की पत्तियो का चित्रण दर्शनीय है*। मछली तथा फेफड़ों की आकृति के कुछ चित्र इन वर्तनों पर वनाए गए थे। यह चित्रण तो कभी कभी सारे वर्तन के ऊपर होता था किंतु कुछ उदाहरणों में यह वर्तनों के गलों तक ही सीमित है। हड़प्पा से प्राप्त एक वर्तन के गले पर उड़ते हुए मोर दिखलाए गए हैं। इनके वीच वीच में तारे वने हैं। इन मोरो की पीठ पर अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध पशु आकृतियाँ हैं। संभवत. ये मनुष्य के सूक्ष्म शरीर' को स्वर्ग ले जाते हुए चित्रित किए गए हैं। प्रायः मोरो के सिर पर सींग दिखलाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत में मोर का मृतक-सस्कारो में अवश्य कुछ स्थान था†। चन्हू दड़ो से प्राप्त दो वर्तनो के टुकड़ों पर मोर सर्पों पर झपटते दिखलाए गए हैं।

हड़प्पा के एक दूसरे उदाहरण में विचित्र दृश्य है। इसमें रेखाओ द्वारा वर्तन का गला दो भागों मे विभाजित किया गया है। नीचे के भाग में तो पत्तियों और सितारो का चित्रण है और ऊपर के भाग मे एक महत्वपूर्ण दृश्य है। इस दृश्य के भी दो भाग हैं एक भाग मे एक चंचुधारी मनुष्य के दोनों ओर दो विचित्र पशु, संभवतः वैल हैं। इन पशुओ के सींग मुड़वा तथा लंवे हैं। चंचुधारी आकृति इन पशुओं को रस्सी से वाँधे और हाथो पैरो से पकड़े हुए है। इसके वाएँ हाथ मे धनुष और वाण है। दाईं ओर के चित्रण में इसी पशु पर एक कुत्ता धावा कर

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० ३३।

† वत्स—य० ह०, पृ० २०७।

रहा है। कुत्ते ने मुंह में पशु की पूँछ पकड़ ली है। पशु के पीछे दो उड़ते मोर दिखलाई देते हैं। इन दोनों भागों के दृश्यों के मध्य में एक बड़े आकार का बकरा है। इस पशु के बड़े बड़े सींगों पर आठ त्रिशूल जुड़े हैं। ये शिवजी के त्रिशूल रहे होंगे*।

बर्तन के गले के दूसरे भाग के दृश्य में त्रिशूल पशु के सींगों के बीच आ गए हैं। बाईं ओर के पशु की पूँछ भी शायद नोच ली गई थी। दाईं ओर बकरे की आकृति के मोर चित्रित किए गए हैं।

श्री वत्स कहते हैं कि इन दृश्यो में चित्रित पशु देवी-देवताओं को बलि दिए गए थे। इसलिये ये मृतक व्यक्तियों की आत्मा को स्वर्ग तक ले जा सकते थे। इसमें चित्रित कुत्ते संभवतः यम-राज के कुत्ते हैं। वैदिक युग के लोगों का विश्वास था कि यम की सीमा में स्थित नदी को पार करने के लिये मृतक को उत्क्रांति या वैतरणी गाय की सहायता की आवश्यकता होती है। उक्त दृश्य में मृतक को बैल की सहायता से नदियाँ पार करवाने का दृश्य अंकित है†।

इस विशद चित्रण से ज्ञात होता है कि हड़प्पा निवासियों ने मृतक-शरीर सबंधी अनेक काल्पनिक धारणाएँ बना ली थीं। साथ ही वे इन धारणाओं को लाक्षणिक रूप मे भी रख सकते थे, यह उनकी विशेषता थी। सितारों के चित्रण का ध्येय संभवतः आकाश को दिखलाना था।

हड़प्पा में प्राप्त केवल एक बर्तन के टुकड़े पर ही मनुष्य-

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २०७।

† वत्स—य० ह०, पृ० २०७-०८।

आकृति का चित्रण हुआ है*। मोहें जो दड़ो में किसी भी वर्तन पर मनुष्य या उसके शरीर के किसी भाग का चित्रण नहीं पाया गया है। कदाचित् किसी धार्मिक सकोच के कारण मोहें जो दड़ो में मनुष्य का चित्रण नहीं किया गया। दूसरी ओर मिस्र के प्राग्डाईनैस्टिक युग तथा सूसा और सुमेर के वर्तनों पर मनुष्य-आकृति का विशद चित्रण हुआ है।

कुछ वर्तनो पर आल्प्स पर्वत के जगली वकरे का भी चित्रण है। यह वकरा सिंधु प्रांत में नहीं पाया जाता, किंतु यह स्पष्ट है कि यह पशु यहाँ के निवासियो को अच्छी तरह ज्ञात था। हड़प्पा से प्राप्त एक वर्तन पर वारहसिंगे का भी चित्रण है†। साँप, मोर, वतख और तोते की आकृतियों से भी सिंधु-प्रांत में मिट्टी के वर्तन सजाए जाते थे। मछलियाँ तो सिंधु-प्रांत निवासियो को अच्छी तरह ज्ञात थीं, किंतु इसका चित्रण केवल एक ही वर्तन पर पाया गया है। मछलो के चित्रित न होने में अवश्य कुछ रहस्य मालूम होता है, क्योंकि मोहें जो दड़ो की अन्य समकालीन सभ्यताओ के स्थानों, जैसे नाल और सुमेर के वर्तनों में मछलियाँ प्रायः चित्रित की जाती थीं‡। हरिण का चित्रण भी कुछ वर्तनों पर हुआ है। जंगली मुर्गे भी संभवतः कुछ वर्तनों पर चित्रित किए गए थे।

हड़प्पा में एक दूसरा कौतूहल जनक दृश्य चित्रित वर्तन प्राप्त हुआ है। इसमें एक मछुआ एक डंडे पर अपने जाल को लटकाए हुए है। इस मछुए के आगे भी कोई आदमी था, जिसका एक

---

* आ० स० रि०, १९२७-२८, चित्र ३५ (बी)।

† वही, १९२७-२८, पृ० ७६।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २१९।

हाथ दिखाई दे रहा है। नीचे की मुड़ती रेखाएँ संभवत: नदी की धाराओं को सूचित करती हैं। बीच के रिक्त स्थानों में कई पशु तथा चिह्न अंकित किए गए हैं*।

चित्रण के लिये कूँचियाँ किस वस्तु की बनती थीं, यह भी ज्ञात नहीं है। आजकल के सिंधी कुंभकार तो गधे के बालों से कूँची बनाते हैं। उस समय भी या तो ताड़ के बारीक पत्रों या गधे के बालों से ही कूँचियाँ बनाई जाती रही होंगी।

जिन बर्तनों में पानी या कोई आलात द्रव्य रखा जाता था उनके अंदर बिटूमन का पलस्तर लगाया जाता था। ऐसे बर्तनों के तलों से ज्ञात हो जाता है कि कुंभकार ने इन्हें घूमते हुए चाक पर से रस्सी द्वारा काटा था। घड़ों पर कभी कभी तो बहुत पतला और कभी खूब मोटा रंग चढ़ाया जाता था। मोटा रंग लगाने का एक लाभ यह भी था कि बर्तनों के छोटे छोटे छिद्र बंद हो जाया करते थे। भिन्न भिन्न रंगों की कारीगरी वाले बर्तन मोहें जो दड़ो में कम थे। ऐसे रंगों का एक सुंदर फूलदान या कुछ ऐसे ही अन्य प्रयोग का पात्र मोहें जो दड़ो में मिला था। ऐसे बर्तनों की चित्रकारी के लिए लाल, काला, हरा और पीला रंग प्रयुक्त होता था। प्राय: श्वेत रंग के ऊपर भी चित्रकारी की जाती थी। जहाँ श्वेत रंग के चित्रण की आवश्यकता होती थी वहाँ बर्तन के स्वाभाविक रंग के ही ऊपर चित्रण कर दिया जाता था†। मोहें जो दड़ो में इस रंग की कारीगरी से युक्त कम बर्तन प्राप्त हुए हैं। लाल रंग के अतिरिक्त अन्य रंग बर्तनों के पकाने के बाद ही लगाए जाते थे। सिंधु-प्रांत के बहुत से बर्तनों पर दो ही रंग प्रयुक्त होते

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २८६।

† मैके—इ० सि०, पृ० १४७।

थे। इनमें एक रंग तो वर्तन की पालिश का ही हो जाता था और दूसरे रग से वर्तनो के ऊपर चित्रकारी को जाती थी। भिन्न-भिन्न रगों की कारीगरी से युक्त बर्तन उस समय वनने लगे थे जब कि मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता अवनति की ओर ढल रही थी।

इसी शैली के कुछ वर्तन आम्री में भी मिले थे। किंतु अलग अलग प्रभावों के कारण मोहें जो दड़ो तथा आम्री के वर्तनों में असमानताएँ आ गई हैं। सर औरियल स्टाईन को वलूचिस्तान के कुल्ली, मेही आदि स्थानों में भी इस शैली के वर्तन प्राप्त हुए थे*। नाल में भी मि० हारग्रीव्ज ने इस शैली के अनेक वर्तन प्राप्त किए थे†। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे वर्तन किन्हीं विशेष क्षेत्रों में फैले थे।

चमकाए हुए वर्तनो के टुकड़े भी खुदाई मे प्राप्त हुए थे। इस प्रकार के वर्तन वनाने के लिये विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। सभ्यता के इस युग मे न तो इलम और न सुमेर के ही निवासियों को वर्तनो पर चमक लाने का ऐसा ढंग ज्ञात था। ऐसे वर्तनों के वनाने में सदैव काले तथा नीले रग की मिश्रित मिट्टी प्रयोग में लाई गई है।

मोहें जो दडो मे विना किसी चित्रकारी के थोड़े से ही बर्तन प्राप्त हुए हैं। ऐसे वर्तन प्रायः निम्न स्तर मे पाए जाते हैं। कभी कभी इन वर्तनों पर केवल कुछ पीलापन लिए हुए तथा गहरे लाल रग की पालिश की जाती थी। नकाशी-युक्त वर्तन भी कम पाए गए हैं। अनेक वर्तनो के अंदर ही नक्काशी की गई है। कुछ

---

* आ० स० मे०, न० ४३।

† वही, नं० ३५।

हाथ दिखाई दे रहा है। नीचे की मुड़ती रेखाएँ सभवतः नदी की धाराओं को सूचित करती हैं। बीच के रिक्त स्थानो में कई पशु तथा चिह्न अकित किए गए हैं* ।

चित्रण के लिये कूँचियाँ किस वस्तु की बनती थीं, यह भी ज्ञात नहीं है। आजकल के सिंधी कुंभकार तो गधे के बालों से कूँची बनाते हैं। उस समय भी या तो ताड़ के बारीक पत्रों या गधे के बालों से ही कूँचियाँ बनाई जाती रही होंगी।

जिन बर्तनो में पानी या कोई आलात द्रव्य रखा जाता था उनके अंदर बिटूमन का पलस्तर लगाया जाता था। ऐसे बर्तनों के तलों से ज्ञात हो जाता है कि कुभकार ने इन्हें घूमते हुए चाक पर से रस्सी द्वारा काटा था। घड़ों पर कभी कभी तो बहुत पतला और कभी खूब मोटा रग चढ़ाया जाता था। मोटा रग लगाने का एक लाभ यह भी था कि बर्तनों के छोटे छोटे छिद्र बद हो जाया करते थे। भिन्न भिन्न रंगों की कारीगरी वाले बर्तन मोहें जो दड़ो में कम थे। ऐसे रंगों का एक सुंदर फूलदान या कुछ ऐसे ही अन्य प्रयोग का पात्र मोहें जो दड़ो में मिला था। ऐसे बर्तनों की चित्रकारी के लिए लाल, काला, हरा और पीला रग प्रयुक्त होता था। प्रायः श्वेत रग के ऊपर भी चित्रकारी की जाती थी। जहाँ श्वेत रग के चित्रण की आवश्यकता होती थी वहाँ बर्तन के स्वाभाविक रग के ही ऊपर चित्रण कर दिया जाता था†। मोहें जो दड़ो में इस रग की कारीगरी से युक्त कम बर्तन प्राप्त हुए हैं। लाल रग के अतिरिक्त अन्य रंग बर्तनों के पकाने के बाद ही लगाए जाते थे। सिंधु-प्रात के बहुत से बर्तनों पर दो ही रग प्रयुक्त होते

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २८६।

† मैके—इ० सि०, पृ० १४७।

थे। इनमें एक रंग तो वर्तन की पालिश का ही हो जाता था और दूसरे रंग से वर्तनो के ऊपर चित्रकारी की जाती थी। भिन्न-भिन्न रंगों की कारीगरी से युक्त वर्तन उस समय वनने लगे थे जब कि मोहें-जो दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता अवनति की ओर ढल रही थी।

इसी शैली के कुछ वर्तन आम्री में भी मिले थे। किंतु अलग अलग प्रभावों के कारण मोहें जो दड़ो तथा आम्री के वर्तनों में असमानताएँ आ गई हैं। सर औरियल स्टाईन को वलूचिस्तान के कुल्ली, मेही आदि स्थानों में भी इस शैली के वर्तन प्राप्त हुए थे*। नाल में भी मि० हारग्रीव्ज ने इस शैली के अनेक वर्तन प्राप्त किए थे†। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे वर्तन किन्हीं विशेष क्षेत्रों में फैले थे।

चमकाए हुए वर्तनो के टुकड़े भी खुदाई मे प्राप्त हुए थे। इस प्रकार के वर्तन वनाने के लिये विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। सभ्यता के इस युग में न तो इलम और न सुमेर के ही निवासियों को वर्तनो पर चमक लाने का ऐसा ढंग ज्ञात था। ऐसे वर्तनों के वनाने में सदैव काले तथा नीले रग की मिश्रित मिट्टी प्रयोग में लाई गई है।

मोहें जो दड़ो में विना किसी चित्रकारी के थोड़े से ही वर्तन प्राप्त हुए हैं। ऐसे वर्तन प्रायः निम्न स्तर मे पाए जाते हैं। कभी कभी इन वर्तनों पर केवल कुछ पीलापन लिए हुए तथा गहरे लाल रंग की पालिश की जाती थी। नक्काशी-युक्त वर्तन भी कम पाए गए हैं। अनेक वर्तनों के अंदर ही नक्काशी की गई है। कुछ

---

* आ० स० मे०, नं० ४३।

† वही, नं० ३५।

आहुति रखने की तश्तरियों पर भी नक्काशी है। यह बतलाना कठिन है कि बर्तनों के अंदर क्यों नक्काशी की जाती थी।

एक प्रकार की छोटी हंडियो पर उठे हुए दानों की कारीगरी है। सभवतः ऐसे बर्तन किसी मंदिर की निजी सपत्ति में से थे। कुछ बहुत छोटे आकारों के वर्तन भी प्राप्त हुए हैं। इनपर शायद इत्र या कोई सौंदर्य-वर्द्धक पदार्थ रखा जाता था। ६ इंच ऊँचे एक प्रकार के खंडित बर्तन मोहें जो दड़ो में बड़ी सख्या में प्राप्त हुए हैं। ये जल पीने के पात्र थे। जल पीने के वाद ये बर्तन सभवतः तोड़ दिए जाते थे। भारत में अभी तक जिस मिट्टी के बर्तन से एक बार पानी पी लिया जाता है उसे जूठा समझा जाता है। आहुति-आधारों का मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में बड़ा प्रचार था। इनपर भी लाल पालिश के ऊपर काले रग से चित्र-कारी की जाती थी। सुमेर तथा इलम में भी ऐसे सैकड़ों आहुति-आधार थे।

हड़प्पा में कुछ ऐसे बर्तन भी प्राप्त हुए हैं जिनमें खुदाई करके कुछ चिह्न वनाए हुए है। ये चिह्न सभवतः वर्तनों के निर्माण-कर्त्ताओं के नाम सूचित करते हैं। यह भी सभव है कि इन बर्तनों पर उनके अधिकारियों के नाम खुदे हो*। मोहें जो दड़ो में ऐसे चिह्नों का कोई बर्तन प्राप्त नहीं हुआ है। इनके अतिरिक्त सैकड़ों प्रकार के बर्तन सिंधु प्रांत मे प्राप्त हुए हैं। यह निर्विवाद है कि

---

* वत्स—य० ह० पृ० २८६। पटने की खुदाइयों में मौर्य-कालीन तहों पर कुछ ऐसे मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए थे जिन पर 'पर्वत के ऊपर चद्रमा' का प्रतीक अंकित था। मुद्राशास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि यह मौर्य सम्राटों का राज-प्रतीक था। इन वर्तनों को राज्य की सम्पत्ति माना गया है।

प्राचीन काल मे सिंधु प्रात में कुंभकारकला खूब फूली फली। इसका प्रभाव इतना दृढ़ था कि आज दिन भी उसी परंपरा के कारण सिधु प्रांत के मिट्टी के वर्तन वड़े प्रसिद्ध हैं। मि० मैके ने सिंधु प्रांत के वलेरेजी नामक गाँव (जो मोहें जो दड़ो से २ मील की दूरी पर है) में कुंभकला का अध्ययन किया है। इस गॉव के तीन कुटुंव अभी तक अपने अतिरिक्त निकटवर्ती और गॉवो के लिये भी वर्तन वनाते हैं। ये छ प्रकार के चाक तथा दो प्रकार की कूँचियों का प्रयोग करते हैं। एक प्रकार की कूँचियॉ तो वे ताड़ की पत्ती के मध्यभाग को पैना करके वनाते हैं और दूसरे प्रकार की कूँचियॉ गर्दभ की गरदन पर के वालो से वनती हैं। कुंभकार-कला सिंधु प्रांत मे स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई थी। इसमे वैदेशिक तत्त्व तथा प्रभाव आए होंगे, किंतु उन्हें मोहें जो दड़ो की कला ने वड़ी खूवी के साथ पचाया है। यह अवश्य है कि आजकल की सिंधु प्रात की कला उतनी उच्च नहीं है जितनी ५००० वर्ष पूर्व थी। किंतु यह किसी दशा में नहीं माना जा सकता कि यह कला यूनान या अरव से यहॉ आई*।

आधुनिक काल में सिंधु प्रात में हला नामक स्थान कुंभकला का केंद्र माना जाता है। सन् १८७१ ई० की एक अंताराष्ट्रिय प्रदर्शनी तक में सिंधु प्रांत के वर्तनों की वड़ी प्रशसा हुई थी।

एक समय सिंधु प्रांत के वर्तनो पर रगीन पालिश होती थी। किंतु समय की प्रगति के साथ रंगो का प्रयोग कम होता गया। इस वीच कई प्रकार के रंगों के प्रयोग होते रहे। किंतु सवसे अधिक समय तक लाल पालिश के ऊपर काले रंग का चित्रण चलता रहा। मोहें जो दड़ो के लोग उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान

---

* ज० रॉ० ए० इं०, जिल्द ६०, १६३०, पृ० ११४।

देते थे। उन्होंने अच्छी पकाई मिट्टी के बर्तनों को ही सर्वश्रेष्ठ समझा। कारीगरी वाले बर्तन आम्री में मिले थे। आम्री का काल मोहें जो दड़ो से पहले का है, इसी लिये मोहें जो दड़ो और आम्री के बर्तनों में इतनी भिन्नता दीख पड़ती है। मोहें जो दड़ो निवासियों के लिये उस युग में अलकरण का कम महत्व रह गया था*। इन मिट्टी के बर्तनों से सिंधु-सभ्यता के अभ्युदय तथा अवनति का अच्छा अध्ययन हो सकता है। सिंधु-सभ्यता की अवनति के चिह्न झूकर और लोहूम जो दड़ो की ऊपरी सतह में प्राप्त तथा झानगर के बर्तनों पर मिलते हैं। इन स्थानों के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए हैं। झूकर और लोहूम जो दड़ो में लाल के ऊपर काले रंग से अलंकरण होता था। किंतु शैली में कुछ भिन्नता आ गई थी। झानगर में काली मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं और मोहें जो दड़ो की ऊपरी दो सतहों पर भी इसी शैली के बर्तन पाए गए हैं। अब लाल रग के ऊपर काले रग की चित्रकारी के बर्तन नहीं बनते थे। इन काली मिट्टी के बर्तनों पर कुछ कुछ नक्काशी भी की हुई है। इससे ज्ञात होता है कि कुंभकारों को उचित आर्थिक सहायता नहीं मिलती थी। लोग कुंभकला को कला भी नहीं मानते थे। यदि उन्होने बर्तन बनाए तो केवल काम चलाने के लिये।

पशुओं की शक्ल के भी कुछ मिट्टी के बर्तन सिंधु प्रांत में बने थे। एक पशु घड़े के रूप में बना मिला है। इसकी पीठ में छिद्र भी है।

असख्य मिट्टी के बर्तनों के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि

---

* आ० स० मे०, ई० ४८, पृ० १५०।
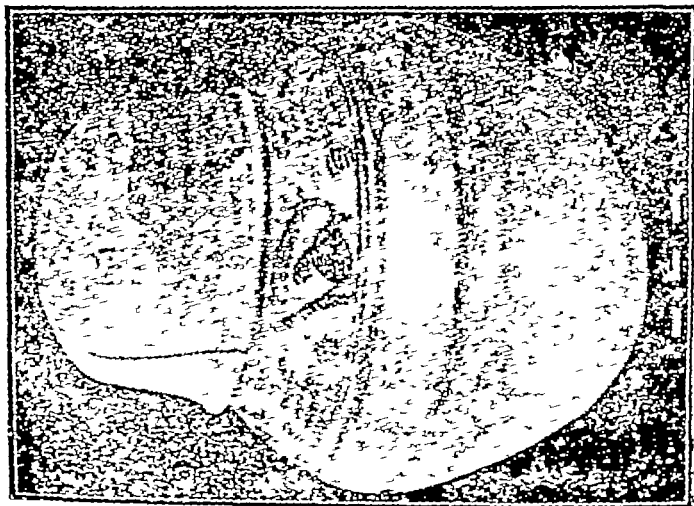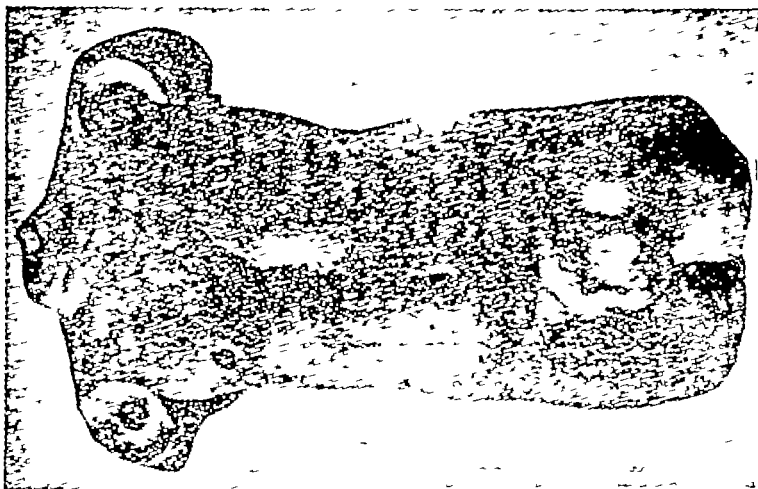
इस नगर में कुंभकारों का भी एक मुहल्ला तथा वर्ग था। विद्वानों ने मोहें जो दड़ो के एक खुदे भाग को कुंभकारों का मुहल्ला वतलाया है। यह संभव है, किंतु यह मुहल्ला तब वर्तमान रहा होगा जब सिंधु-सभ्यता अवनति की ओर चल चुकी थी। अन्यथा एक सुंदर संस्कृति के नगर में कुंभकारों को स्थान नहीं मिल सकता था, क्योंकि उनके भट्ठों के धुएँ से नगर के स्वास्थ्य को अवश्य कुछ हानि पहुँचती।

सिंधु प्रांत के कलाकार सचमुच इस कला में पटु थे (चि० सं० ११)। जब हम देखते हैं कि आधे इंच तक ऊँचे बर्तनों के बनाने में यहाँ के निवासी असाधारण कौशल दिखला सकते थे, तो हम उस युग के कलाकारों के हाथों की बारीकी की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते।

अपने यश के दिनों में सिंधु प्रांत मे कई कलाएँ अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थीं। कितनी ही दिशाओं में इन्होंने अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्थापित किया था। सिंधु प्रांत की लाल पालिश के ऊपर काले रंग का जो चित्रण हुआ है, ऐसी शैली ससार के अन्य किसी प्राचीन देश को ज्ञात नहीं थी। यह सिंधु प्रांत की स्थायी शैली थी*। यह अवश्य था कि भास्कर शिल्प की कतिपय बातों की ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया। भारत में मूर्तिकला का शिलारोपण करने का सर्वप्रथम श्रेय भी उन्हीं को दिया जायगा। श्री दीक्षित के मतानुसार योगी की मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का सर्वप्रथम उदाहरण है। कई देशों की कला की तरह यहाँ की कला भी अपनी परवर्ती कला पर प्रकाश डालती है। लंबे नेत्र तथा नेत्रों का नासिका के अग्र भाग में

---

* एशंट ईजिप्ट ऐंड दि ईस्ट, मार्च-जून, १६३३, पृ० १।

स्थिर होना बाद की भारतीय कला में भी पाया जाता है*। वास्तव में जैन तथा बौद्ध धर्म की अनेक मूर्तियाँ योग की दशाओं का परिचय देती हैं। श्री रामप्रसाद चदा तो कहते हैं कि प्रथम शताब्दी में जो भगवान् बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनीं उनकी परंपरा सिंधु-सभ्यता से आई थी। प्रथम शताब्दी में जब योग का फिर प्रचार बढ़ा तो योग की दशाओं में मूर्तियाँ बनने लगीं†। मुद्राओं तथा पशुओं के चित्रण में एक अद्भुत विशिष्टता तथा ऐश्वर्य का दिग्दर्शन है। ये पशु शांतिमय मालूम होते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये पशु भारुत, साँची या अमरावती के पशुओं की तरह किसी विशेष घटना में भाग नहीं लेते। किंतु पशुओं को जितना महत्व सिंधु-प्रांत की कला में मिला उतना ही उन्हें बाद के युगों की भारतीय कला में भी मिला है।

यदि हम मान लें कि पत्थर के कुछ सिर जीवितों की प्रतिकृतियाँ थीं तो हम सिंधु प्रांत की कला को यथार्थवादी कला के अंदर रखेंगे। पशुओं का चित्रण तो निस्संदेह यथार्थवादी है। कलाकारों ने जैसे जिस पशु को देखा वैसा ही उसका चित्रण किया। कदाचित् उस काल के कलाकार ध्यान-मंत्र का साधन नहीं करते थे। आदर्शवाद के झीने आवरण को जो कि भारतीय कला की एक विशेषता है, सिंधु-प्रांत-निवासी अपनी कला में कभी नहीं ला सके। कतिपय कला-मर्मज्ञों का ठीक ही कहना है कि उच्च कला में कलाकार के मनोवेगों, अनुभवों तथा दार्शनिक विचारों की झलक होनी चाहिए। इन बातों के अभाव से

---

* क्रामरिश—इंडियन स्कल्पचर, पृ० ४।

† चदा—मेडीवल इंडियन स्कल्पचर, पृ० १०।

अंकित हमें कोई उदाहरण सिंधु प्रांत में प्राप्त नहीं हुए हैं। संभव है भविष्य की खुदाइयों मे हमें कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त हो सकें।

खिलौनों, योगी की मूर्ति तथा नर्तकियों का धर्म से विशेष संबंध है। संभवतः मोहें जो दड़ो की कला धर्म से भी कुछ सीमा तक प्रभावित हुई थी।

यदि हम ससार के कला-इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमे ज्ञात होगा कि कला का मूल धार्मिक भावनाओं में स्थित है। नरवश विद्या के आधार पर भी प्रमाणित हो गया है कि प्राचीन काल की कला केवल धर्म ही से उत्पन्न हुई थी। डा० कुमार स्वामी का कथन है कि धर्म तथा कला एक ही अनुभव के दो भिन्न भिन्न नाम हैं। यह यथार्थता तथा समता द्वारा उत्पन्न अतर्ज्ञान है*।

खेद है कि भास्कर शिल्प के कोई उच्च उदाहरण मोहें जो दड़ो में नहीं मिले हैं। केवल हड़प्पा के दो धड़ो को ही हम उच्च शिल्प की वस्तुएँ मान सकते हैं। अब तक प्राप्त मूर्तियों में कोई ऐसा उदाहरण नहीं है जिसकी तुलना हम मथुरा या सारनाथ के बुद्ध या गुप्त-काल की अन्य मूर्तियो के साथ कर सकें।

मोहें जो दड़ो में मूर्तिपूजा का प्रचलन था, यह मुद्राओं में अंकित दृश्यो से ज्ञात होता है। फिर मोहें जो दड़ो युग के बाद मूर्तिकला कई शताब्दियों तक अंधकार में विलीन हो जाती है। केवल मौर्य युग के पूर्व आकर हमें कुछ यक्ष-मूर्तियाँ मिलती हैं। किंतु इनका शिल्प अति साधारण है इनमें केवल एक खूबी है, और वह यह है कि ये यक्ष-मूर्तियाँ चारों ओर से कोरी गई हैं।

---

* कुमारस्वामी—डान्स ऑव शिव, पृ० ३५-३६।

यह यक्ष-समूह इस अंधकारमय युग की टिमटिमाती कला परंपराओं पर उचित प्रकाश डालता है।

भारत में वास्तविक मूर्तिपूजा ईसा की पहली शताब्दी में प्रारंभ हुई। इसका सर्वप्रथम कारण तो भागवत धर्म का प्रचार था। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं की पूजा करते हैं उन्हें भी वे मनोवांछित फल देते हैं—

> यो यो या या तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
>
> × × ×
>
> लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥*
>
> गीता अ० ७, श्लोक २१-२२ ।

इस प्रकार भागवत धर्म की उत्पत्ति के साथ कर्मकांड से ऊबी जनता देवताओं का पूजन करने लगी*। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी कार्य करने लगी। इस शाखा के प्रचारकों ने संसार को भगवान् बुद्ध की साकार उपासना के लिये आदेश दिया। इस कारण ई० पू० पहली शताब्दी में मोहें जो दड़ो युग के बाद सर्वप्रथम पूजा की मूर्तियाँ बनीं।

मोहें जो दड़ो की मूर्तियाँ तो कुरूप हैं, किंतु मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित पशु बड़े सुंदर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह अंतर कला में किस प्रकार आया। हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं—

(१) मोहें जो दड़ो नगर संस्कृति तथा सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। यहाँ कई प्रकार की कलाएँ रही होंगी। कलाकारों की भी इच्छा रहती होगी कि वे अपने लिये नए

---

* आर्ट बुलेटिन, म्यूजियम, बोस्टन, जिल्द ६, न० ४, पृ० १०-१२ ।

साधन, नई शैली तथा नए रास्ते ढूँढ़ें। इस प्रकार मोहें जो दड़ो में कला की दो प्रमुख शाखाएँ थीं। एक शाखा के कलाकारों ने मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों पर चित्रांकन करने में कुशलता प्राप्त की और दूसरी शाखा के कलाकारों ने धार्मिक प्रतीक तथा मिट्टी के खिलौने बनाए। किसी विशेष कारण से वे इन वस्तुओं के सौंदर्य को बढ़ा नहीं सके।

(२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि मोहें जो दड़ो में मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों का विशेष महत्व था। ये वस्तुएँ राज्य के किसी विभाग के अंतर्गत बनाई जाती रही होंगी। इस कार्य के लिये ऐसे कलाकार नियुक्त होते रहे होंगे जिन्होंने इस कला में विशेषता प्राप्त की थी।

(३) तीसरे, मोहें जो दड़ो एक ऐसा नगर था जिसमें कई वर्गों तथा जातियों के लोग रहते थे। ऐसे नगर में संभवतः कुछ ऐसी भी आजीविका के लोग थे जो खुदाई के कार्य में बड़े कुशल थे। इन्हीं के द्वारा ये पट्टियाँ तथा मुद्राएँ बनी होंगी।

यह पता नहीं है कि कलाक्षेत्र में मोहें जो दड़ो के लोगों की कैसी गति थी। इतना हम कह सकते हैं कि यहाँ के लोगों का बौद्धिक जीवन बहुत बढ़ाचढ़ा नहीं था। उन लोगों की समझ, सूझ, चिंतन तथा मनन इतना गहरा तथा विशद न था कि वे उस उच्च दर्शन का निर्माण कर पाते जिससे हमारे वेद, पुराण, गीता, उपनिषद् तथा महाकाव्य भरे पड़े हैं। बौद्ध धर्म के 'दुःख-वाद' तथा गीता के 'कर्मवाद' की वे कल्पना नहीं कर सके। और जब लोग इस उच्च दर्शन को समझने योग्य हुए तभी कला में मानवीय तत्व तथा दर्शन आया। जीवन की उस स्थूलता तथा ईश्वर की उस महत्ता को वे नहीं समझ सके जिसका पूर्ण दर्शन हमें रोदाँ तथा माइकेल एंजिलो की कृतियों में मिलता है।

यह यत्न-समूह इस अंधकारमय युग की टिमटिमाती कला परपराओं पर उचित प्रकाश डालता है।

भारत में वास्तविक मूर्तिपूजा ईसा की पहली शताब्दी में प्रारभ हुई। इसका सर्वप्रथम कारण तो भागवत धर्म का प्रचार था। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि जो लोग श्रद्धा-पूर्वक अन्य देवताओं की पूजा करते हैं उन्हें भी वे मनोवांछित फल देते हैं—

यो यो या या तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

× × ×

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥*

गीता अ० ७, श्लोक २१-२२।

इस प्रकार भागवत धर्म की उत्पत्ति के साथ कर्मकांड से ऊबी जनता देवताओं का पूजन करने लगी*। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी कार्य करने लगी। इस शाखा के प्रचारकों ने संसार को भगवान् बुद्ध की साकार उपासना के लिये आदेश दिया। इस कारण ई० पू० पहली शताब्दी में मोहें जो दड़ो युग के बाद सर्वप्रथम पूजा की मूर्तियाँ बनीं।

मोहें जो दड़ो की मूर्तियाँ तो कुरूप हैं, किंतु मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित पशु बड़े सुंदर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह अंतर कला में किस प्रकार आया। हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं—

(१) मोहें जो दड़ो नगर संस्कृति तथा सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। यहाँ कई प्रकार की कलाएँ रही होंगी। कलाकारों की भी इच्छा रहती होगी कि वे अपने लिये नए

---

* आर्ट बुलेटिन, म्यूजियम, बोस्टन, जिल्द ६, न० ४, पृ० १०-१२।

साधन, नई शैली तथा नए रास्ते ढूंढ़ें। इस प्रकार मोहें जो दड़ो में कला की दो प्रमुख शाखाएँ थीं। एक शाखा के कलाकारों ने मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों पर चित्रांकन करने में कुशलता प्राप्त की और दूसरी शाखा के कलाकारों ने धार्मिक प्रतीक तथा मिट्टी के खिलौने बनाए। किसी विशेष कारण से वे इन वस्तुओं के सौंदर्य को बढ़ा नहीं सके।

(२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि मोहें जो दड़ो में मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों का विशेष महत्व था। ये वस्तुएँ राज्य के किसी विभाग के अंतर्गत बनाई जाती रही होंगी। इस कार्य के लिये ऐसे कलाकार नियुक्त होते रहे होंगे जिन्होंने इस कला में विशेषता प्राप्त की थी।

(३) तीसरे, मोहें जो दड़ो एक ऐसा नगर था जिसमें कई वर्गों तथा जातियों के लोग रहते थे। ऐसे नगर में संभवतः कुछ ऐसी भी आजीविका के लोग थे जो खुदाई के कार्य में बड़े कुशल थे। इन्हीं के द्वारा ये पट्टियाँ तथा मुद्राएँ बनी होंगी।

यह पता नहीं है कि कलाक्षेत्र में मोहें जो दड़ो के लोगों की कैसी गति थी। इतना हम कह सकते हैं कि यहाँ के लोगों का बौद्धिक जीवन बहुत बढ़ाचढ़ा नहीं था। उन लोगों की समझ, सूझ, चिंतन तथा मनन इतना गहरा तथा विशद न था कि वे उस उच्च दर्शन का निर्माण कर पाते जिससे हमारे वेद, पुराण, गीता, उपनिषद् तथा महाकाव्य भरे पड़े हैं। बौद्ध धर्म के 'दुःखवाद' तथा गीता के 'कर्मवाद' की वे कल्पना नहीं कर सके। और जब लोग इस उच्च दर्शन को समझने योग्य हुए तभी कला में मानवीय तत्व तथा दर्शन आया। जीवन की उस स्थूलता तथा ईश्वर की उस महत्ता को वे नहीं समझ सके जिसका पूर्ण दर्शन हमें रोदाँ तथा माइकेल एंजिलो की कृतियों में मिलता है।

महान् कलाकार को कोरा यथार्थवादी ही नहीं होना चाहिए। उसमें कलाकारों के मनोवेगों, रहस्य-ज्ञान तथा कल्पना की हल्की उड़ान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त महान् कला को जीवन के सन्निकट भी होना चाहिए।

दर्शन की यह कमी हम मौर्य-युग के पूर्व की यक्ष-मूर्तियों में भी पाते हैं। परखम, पवाया, वेसनगर, पटना इत्यादि स्थानों में प्राप्त यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों में भी हम देखते हैं कि इनमें न तो मानवीय तत्व है और न आदर्शवाद का आवरण ही है। इन कलाकारों की सृष्टि में मनुष्य केवल एक साधारण घटना की वस्तु है। वह उस नेता के रूप में नहीं आया जिसे हम बाद की भारतीय कला में भी पाते हैं*। हमारी धारणा है कि कला में मनुष्य का प्राधान्य होना चाहिए, क्योंकि कला का उद्गम मनुष्य से हुआ है और वह उसके जीवन के चारों ओर घूमती है। केवल कल्पना की आधारशिला पर खड़ी कला शून्य है—तत्वहीन है। व्यक्ति व्यक्ति में, समाज समाज में, आदर्श आदर्श में जब संघर्ष होता है तभी उच्च दर्शन और कलाएं भी उत्पन्न होती हैं। सम्भवत. मोहेंजो दड़ो में इन संघर्षों का विशेष महत्व नहीं था।

---

* रूपम—अप्रेल, १९२४, पृ० ६६।

सप्तम अध्याय

स्थापत्य

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में अनेक भवनों की दीवारें निकली हैं। खेद है कि कोई भी इमारत समूची नहीं बच सकी है। कई इमारतों की दीवारें इतनी भग्न हो गई हैं कि उनसे बनी इमारत के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता, फिर भी एक सरसरी दृष्टि फेरने से ज्ञात हो जाता है कि सिंधु-प्रांत निवासी महान् निर्माणकर्ता थे और वे कई बातों में अन्य समकालीन सभ्यताओं के निर्माणकर्ताओं से बढ़े चढ़े थे।

मोहें जो दड़ो की इमारतों में अधिकतर पकाई हुई ईंटे प्रयोग में लाई गई हैं। इनकी बनावट बड़ी मनोहर है। यहाँ के कारीगरों ने मेसोपोटेमिया की तरह कभी दीवार के बाहर कुरूप ईंटें नहीं लगाईं। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिये प्रयुक्त होती थीं। मोहें जो दड़ो में पकाने से पहले ईंटे धूप में सुखा दी जाती थीं। कई ईंटों के ऊपर कुत्ते और कौओं के पंजे के चिह्न अंकित हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये ईंटें गीली अवस्था में धूप में सुखाने के लिये रखी गई थीं, उस समय ये पशु-पक्षी इनके ऊपर चले होंगे। ये सभी ईंटे पुलिनमय मिट्टी से बनाई जाती थीं। सबसे बड़ी ईंट का आकार २०'२५ X १०'५ X ३'५ इंच और सबसे छोटी का ६'५ X ४'३५ X २ इंच हैं। किंतु अधिकतर ईंटों का आकार ११ X ५½ X २¾ या ५½ X २¼ X २¾ इंच का होता था। ये ईंटें किसी

औजार या आरी से ठीक आकारों में काटी जाती थीं। भारत में किसी भी युग के कारीगरो ने इस सुलभ नाप की ईंटें नहीं बनाई। सम्राट् अशोक के काल में ईंटो का आकार सिंधु-प्रात की ई टों से दुगुना हो गया था। संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में इतनी अधिक मात्रा में ईंटें नहीं बनाई गई। इसका एक कारण तो यह था कि अन्य देशों को पत्थर सरलता से प्राप्त हो जाया करता था, इसलिये उन्होंने ई टों पर प्रयोग व्यर्थ समझा। सिंधु-प्रात-निवासियो की वणिक् प्रवृत्ति थी और इस कारण उन्होने अपने नगर के चारो ओर की मनों बालू का समुचित उपयोग किया।

मोहें जो दड़ो की ई टों पर कोई कारीगरी नहीं है। ईंटों की ठीक नाप और उनका सफाई के साथ काटा जाना, यहीं तक सिंधु प्रांत के कलाकार अपना कला-प्रेम दिखला सकते थे। उनमें वह मनोहर तथा चित्ताकर्षक कारीगरी नहीं है जिसे हम बाद में सारनाथ, भीतरगॉव तथा पहाड़पुर की ई टों पर पाते हैं। समस्त खुदाइयों में केवल एक ई ट ऐसी मिली है जिसपर कोई चित्रलिपि खुदी है।

मिस्र देश मे रोम-काल तक पकाई हुई ईंटें व्यवहृत नहीं हुई थीं। मेसोपोटेमिया में ऐसी ईंटे प्रयुक्त तो होती थीं किंतु बहुत ही कम मात्रा में। मेसोपोटेमिया में स्नानगृहों या शौचगृहों में ही पकाई हुई ई टों का अधिक प्रयोग हुआ है।

दीवार चुनने से पहले उसकी दृढ़ता के लिये नींव में टूटी ई टे डाल दी जाती थीं। धूप में सुखाई गई ई टें केवल नींव में काम आती थीं। जिन मकानो की नींव असावधानी से डाली गई है वे सभवत निर्धन व्यक्तियो के घर हैं। मध्य युग में जो इमारतें बनी थीं उनकी नींव असाधारण तथा दृढ़ है।

मोहेंजो दड़ो के मकानों की दीवारों में कोई भद्दी या कुरूप ईंटें नहीं लगाई गईं। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें बनाने से पहले सुंदर आकार की ईंटें चुन ली जाती थीं।

समय समय पर लोग पुराने मकानों की ईंटें नए मकानों के लिये ले जाने लगे। कुषाण-काल मे तो स्तूप बनाने के लिये बहुत सी ईंटें पुराने मकानों से निकाली गई थीं। सिंधु प्रांत के मकानों मे मिट्टी के गारे का प्रयोग होता था और इस कारण ईंटों के निकालने मे कुछ भी कठिनाई नहीं होती थी।

छोटे मकानों की दीवारें सीधी खड़ी रहती थीं पर बड़े मकानों की बाहरी दीवारें कुछ तिरछी कर दी जाती थीं। दीवारों में ईंटें खड़े या सम रूप में रखी जाती थीं। दीवारें बडी विशाल होती थीं। कुछ दीवारों के अंदर मलबा भी भरा जाता था। जिन प्राचीन दीवारों के ऊपर नई दीवार रखी जाती वे भी चिनाई करने से पहले समतल कर दी जाती थीं। यदि किसी दीवार के गिरने की आशंका होती तो उसके बाहर से सहायक दीवारें बना दी जाती थीं। दीवारों को चढ़ाते चढ़ाते ऊपरी भाग प्रायः तिरछा हो जाया करता था।

अंतिम युग की इमारतें अति साधारण हैं। इनमें ईंटें ठीक ढंग से नहीं काटी गई हैं और न वे दीवारों में उचित ढंग से जोड़ी ही गई हैं। अंतिम युग की दीवारों की चिनाई में ईंटों के बीच बीच में रिक्त स्थान भी हैं।

हड़प्पा के भवन मोहेंजो दड़ो के सदृश विशाल नहीं थे। किंतु यह निर्विवाद नहीं है। क्योंकि हड़प्पा के निकट ही एक गाँव है, यहाँ के निवासियों को जब कभी ईंटों की आवश्यकता जान पड़ी, उन्होंने हड़प्पा के टीलों को खोदा और ईंटे निकाल

ऊपरी खंडों में जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इन सीढ़ियों के अवशेष अभी तक दीख पड़ते हैं। ये सीढ़ियाँ बहुत कम चौड़ी हैं। इसका कारण सभवतः यह है कि मोहें जो दड़ो के मकानों में सदैव स्थान की कमी रहती थी। अभी तक बड़े आकारों की केवल दो सीढ़ियाँ मिली हैं। ये ८.५ इंच चौड़ी तथा २ २५ इच ऊँची हैं। ये दोनों सीढ़ियाँ साथ साथ थीं। कुछ सीढियाँ तो बिल्कुल पकाई ईंटों की बनती थीं, किंतु कुछ के बाहर से ही ईंटें लगती थीं। इनके अंदर कर्कट आदि भरा जाता था। धनाढ्य लोगों के घरों में बड़े आकार की सीढ़ियाँ होती थीं। जिन मकानों में सीढ़ियाँ नहीं हैं वहाँ शायद लकड़ी की सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। वैसे तो स्नानागार के कुछ भागों से भी ज्ञात होता है कि उनमें लकड़ी की कुछ सीढ़ियाँ बनी थीं*।

एक बात विशेष रहस्य की यह है कि हड़प्पा के मकानों में बहुत ही कम सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। हड़प्पा की समस्त खुदाइयों में केवल तीन स्थानों मे सीढ़ियाँ पाई गई हैं।

अंतिम युग में बहुत ही कम सीढ़ियाँ बनी थीं। उस समय मोहें जो दड़ो नगर में भिन्न भिन्न व्यवसायों वाले लोग बस गए थे। किंतु नगर समृद्धिहीन था। निर्धनता के कारण लोग दो खंड के मकान नहीं बना सकते थे†।

अँगीठियाँ या चूल्हे मकानों के बाहर बनते थे। इनके लिये प्रांगणों के एक कोने पर ऊँचा स्थान बना दिया जाता था। चूल्हों के ऊपर तो बर्तन रखे जाते थे और नीचे लकड़ी डालकर आग जलाई जाती थी।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० १३३।
† मैके—फ० य० मो०, पृ० १६६।

कुछ मकानों के दरवाजों के अंदर जरा हटकर पर्दे के लिये दीवारें बनाई गई थीं।

सभी साधारण तथा असाधारण भवनों में कुएँ बने थे (चित्र सं० १७)। साधारणतः वे आकार में गोल हैं, किंतु दो कुएँ अंडाकार भी हैं। जनसाधारण के लिये कुएँ उचित स्थलों पर मकानों से बाहर बनते थे। किंतु कई घरों के निजी कुएँ भी बाहर के लोगों के लिये खुले थे। कुछ कुओं के निकट गड्ढे से बने हैं। उस काल में भी मोहें जो दड़ो नगर के कुओं पर बड़ी भीड़ रहा करती रही होगी। इस कारण अपनी बारी आने तक गाँवों की स्त्रियाँ इनपर अपने घडों को रख देती रही होंगी। कहीं कहीं कुओं के निकट तिपाइयाँ भी बनी हैं। इनपर बैठकर स्त्रियाँ प्रायः गप-शप करती रही होंगी। कुछ कुओं के निकट बड़े बड़े घड़े भी रखे थे। सभवतः इनमे यात्रियों के लिये पानी भरा रहता था। भारत में जल-दान बड़ा पुण्य माना गया है। संभवतः नगर-निवासियों की ओर से ये घड़े यहाँ पर रखे गए थे।

कुओं के मुँह पर चारो ओर से एक दीवार बनी रहती थी। जैसे जैसे भूमि की सतह ऊँची होती गई वैसे वैसे इन दीवारों को भी ऊँचा किया गया। पानी संभवतः आज कल की ही तरह रस्सी द्वारा खींचा जाता था। कूप की नडर का एक पत्थर रस्सी की रगड से घिसा मालूम होता है। ऐसी रगड़ से रक्षा के लिये कुओं की ऊपरी दीवारें सुदृढ़ बनाई जाती थीं। उद्धरण-यंत्र का भी निजी कुओं में प्रयोग होता रहा होगा*। कुछ कुओं के अंदर से सीढ़ियाँ भी बनी थीं। दो कुएँ बंद कर दिए गए थे। जान पड़ता है इन कुओं में गिर कर कुछ मनुष्यों की मृत्यु हुई थी।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २७०।

हड़प्पा में अपेक्षाकृत बहुत ही कम कुएँ निकले हैं। समस्त खुदाइयो में यहाँ केवल छः कुएँ मिले हैं। ये कुएँ भी एक दूसरे से दूरी पर हैं। श्री वत्स ठीक ही कहते हैं कि हड़प्पा निवासी पीने के लिये ही इन कुओं से पानी लेते थे। अन्य कार्यों के लिये उन्हें नदी से पानी मिल जाता रहा होगा*। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि एक समय रावी नदी हड़प्पा के निकट होकर बहती थी।

आज ५००० वर्ष बाद भी इन कुओ की मजबूती को देखकर दग रह जाना पड़ता है। इनकी ईंटे इतनी सफाई के साथ चुनी गई थीं कि प्रकृति के अनेक प्रहारों से भी वे नष्ट नहीं हो सकी हैं। ये कुएँ साफ किए जाने पर आजदिन भी खूब काम दे रहे हैं।

अतिम युग में कोई भी नया कुआँ नहीं बना था। उस समय नगर की समृद्धि जाती रही थी और लोग नए कुओं के बनाने के व्यय को वहन नहीं कर सकते थे। इस कारण इस समय लोगों ने पुराने कुओ की ही मरम्मत कर काम चलाया†।

कुछ कुओं के निकट नालियाँ भी बहती हैं। आधुनिक स्वास्थ्य रक्षा-विभाग की दृष्टि से इन नालियों का कुओ के निकट होकर बहना उचित नहीं है। कभी कभी जब नालियो में बहुत पानी और कीचड़ बहता रहा होगा तो कुछ कीचड़ या पानी ऊपर बहकर कुओं के अंदर भी चला जाता रहा होगा। यह बतलाना कठिन है कि कुओं की नियमित रूप से सफाई होती थी या नहीं। किंतु जब नालियो की नियमित रूप से सफाई होती थी तो कोई

---

* वत्स—य० ह० पृ० १४।

† दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० २०।
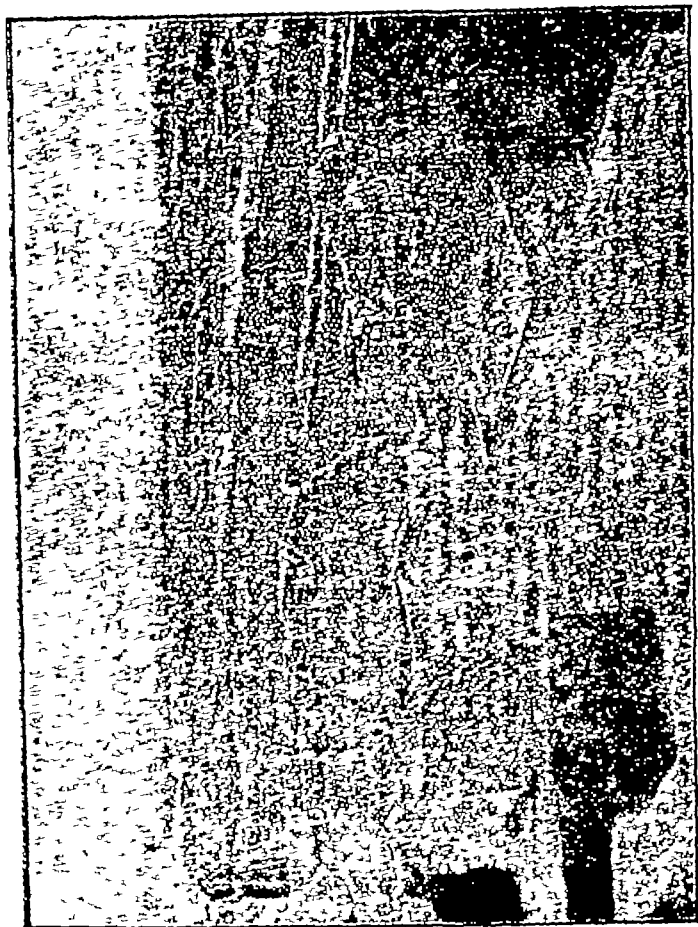
कारण नहीं है कि इन कुओं की सफाई की भी उस काल में कोई व्यवस्था न रही हो।

मोहें जो दड़ो मे कई घरो में निजी स्नानगृह थे। स्नानगृहों की प्रचुरता से ज्ञात होता है कि जलपूजा के अतिरिक्त यहाँ के निवासी निजी शुद्धता पर भी विशेष ध्यान देते थे। स्नानागारो के फर्शों पर ईटें बड़ी सफाई के साथ लगाई जाती थीं। इनसे एक बूँद भी पानी नीचे नहीं जा सकता था। कुछ फर्शों के ऊपर लाल रग का कोई पदार्थ भी लगा था। मि० मैके कहते हैं कि यह रंग मालिश के तेल या पसीने के कारण उत्पन्न हुआ है*। ऐसा ज्ञात होता है कि निजी घरो मे ऊपरी खंड में भी स्नानगृह थे। इनका पानी साधारण नालियों, जिनका लगाव बड़ी सड़कों से था, वह जाता था। इन कमरो मे कुछ ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनके द्वारा शरीर का मैल निकाला जाता था। ये वस्तुएँ झावों का काम देती थी।

मोहें जो दड़ो में कुछ अच्छे ढंग के शौचगृह भी निकले हैं (चि० स० १८)। कभी कभी ये स्नानगृहों के बगल ही में बना दिए जाते थे। हाथ पैर धोने के लिये जो फर्श हैं वे भी अति सुंदर तथा दृढ़ हैं। इस शैली के फर्श मेसोपोटेमिया में किसी भी युग मे नहीं बने। यह सत्य है कि मेसोपोटेमिया की पूजा-पद्धति में हाथ पैर धोकर ही मदिरो में प्रवेश किया जाता था, किंतु मेसोपोटेमिया में मंदिरो के निकट ही इस सुविधा के लिये कुएँ बना दिए गए थे। दूसरी ओर मोहें जो दड़ो में निजी मकानों में हाथ पैर धोने के लिये सुंदर गृह बनाए गए थे। संभवतः मोहें

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १६६–६७।

जो दड़ो और मेसोपोटेमिया की जल-पूजा-विधि तथा धार्मिक भावनाएँ भिन्न प्रकार की थी ❀।

कुछ शौचगृह आजकल की ही तरह ऊपरी खंड में भी बनते रहे होंगे। निर्धन व्यक्ति खुले मैदान में जाते थे। 'पौर' के प्रबंध से शौचगृह आधुनिक काल की ही तरह रात्रि में साफ कर दिए जाते रहे होंगे। बौद्ध स्तूप से लगभग ६०० फुट की दूरी पर एक बड़ा स्नानागार है (चि० सं० १६)। यह मध्य में ३६ फुट लंबा, २३ फुट चौड़ा तथा ८ फुट गहरा है। इसके चारो ओर कई बरामदे और प्रकोष्ट हैं। दक्षिण की ओर एक लंबा प्रकोष्ठ है जिसके दोनो कोनो पर दो छोटे छोटे कमरे बने हैं। पूर्व की ओर छोटे कमरो की एक पक्ति है। उत्तर की ओर बड़े आकार के कमरे थे। इस स्नानागार की दीवारें बडी दृढ हैं। दीवार के दोनों ओर तो पक्की ईंटें लगाई जाती थीं और बीच में कच्ची ईंटें डाली जाती थीं। तालाब की ईंटे भी दर्शनीय हैं। इनको किसी औजार से बड़ी सफाई के साथ काटा गया है। कुछ दीवारें ४ फुट ५ इच तक मोटी हैं। तालाब की बाहरी दीवार पर विटूमन (गिरिपुष्पक) की एक तह है। विटूमन का प्रयोग सिंधु प्रांत में कम हुआ है, किंतु सुमेर और बेबीलोन में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। विटूमन सिंधु नदी के किनारे स्थित ईसा खेल, यार्री और सत्राई पहाड़ियों (बलूचिस्तान) तथा हित में मिलता है। इन्हीं में से किसी स्थान से मोहें जो दड़ो में विटूमन आया होगा। विटूमन एक मूल्यवान् तथा कठिनाई से प्राप्त होनेवाला पदार्थ है और इसका स्नानागार की दीवारों पर प्रयुक्त होना इस स्नानागार की विशेष महत्ता को सूचित करता है। स्नानागार के अंदर

---

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २५।

चि० स० १६

की दीवारों पर ईंट के बारीक चूर्ण तथा मिट्टी का मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था*।

विद्वानों का मत है कि इस स्नानागार का जल पवित्र समझा जाता था और इसमें लोग स्नान-पूजा करते रहे होंगे। इसके निकट ही संभवतः एक मंदिर भी था।

इस स्नानागार के दक्षिण मे फर्श कुछ ढलुवाँ बना दिया गया है। यहाँ से १ फुट १ इंच चौड़ी तथा ६ इंच गहरी मोरी है। इस मोरी से समय समय पर तालाब का जल बाहर निकाला जाता था। तालाब में नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इसकी खुदाई करते समय यत्र तत्र कुछ जली राख भी मिली है। सभवत: स्नानागार के कुछ कमरे दो खंड के थे। उन्हीं की छत कभी जल गई रही होगी। स्नानागार में जाने के लिये छ. दरवाजे थे।

स्नानागार के दक्षिण-पश्चिम की ओर पूरी तथा पक्की ईंटो की वेदियाँ बनी हैं। इनके निकट राख तथा जला कोयला मिला है। कुछ इमारतों की बनावट से पता लगता है कि उनमें हम्माम बने थे। इन इमारतों की दीवारों में स्थान स्थान पर ऐसे नल लगे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इनमें गर्म जल भरा रहता था। हम्माम के अतिरिक्त यह भी सभव है कि इन नलों के द्वारा शीतकाल में कमरे गर्म किए जाते थे। चन्हूदड़ो के लोग भी संभवतः हम्माम से परिचित थे†।

मोहेंजो दड़ो में अनेक सुंदर नालियाँ बनी थीं। नालियो का इतना सुंदर प्रबंध प्राचीन काल के अन्य किसी देश में नहीं

---

* आ० स० रि० १६२५-२६, पृ० ७७।

† वही, पृ० ४४।

की दीवारों पर ईंट के बारीक चूर्ण तथा मिट्टी का मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था*।

विद्वानों का मत है कि इस स्नानागार का जल पवित्र समझा जाता था और इसमें लोग स्नान-पूजा करते रहे होंगे। इसके निकट ही संभवतः एक मंदिर भी था।

इस स्नानागार के दक्षिण में फर्श कुछ ढलुवाँ बना दिया गया है। यहाँ से १ फुट १ इंच चौड़ी तथा ६ इंच गहरी मोरी है। इस मोरी से समय समय पर तालाब का जल बाहर निकाला जाता था। तालाब में नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इसकी खुदाई करते समय यत्र तत्र कुछ जली राख भी मिली है। सभवत. स्नानागार के कुछ कमरे दो खंड के थे। उन्हीं की छत कभी जल गई रही होगी। स्नानागार में जाने के लिये छ. दरवाजे थे।

स्नानागार के दक्षिण-पश्चिम की ओर पूरी तथा पक्की ईंटों की वेदियाँ बनी हैं। इनके निकट राख तथा जला कोयला मिला है। कुछ इमारतो की बनावट से पता लगता है कि उनमें हम्माम बने थे। इन इमारतों की दीवारों में स्थान स्थान पर ऐसे नल लगे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इनमें गर्म जल भरा रहता था। हम्माम के अतिरिक्त यह भी संभव है कि इन नलों के द्वारा शीतकाल में कमरे गर्म किए जाते थे। चन्हूदड़ो के लोग भी सभवतः हम्माम से परिचित थे†।

मोहें जो दड़ो में अनेक सुंदर नालियाँ बनी थीं। नालियो का इतना सुंदर प्रबध प्राचीन काल के अन्य किसी देश मे नहीं

---

* आ० स० रि० १६२५-२६, पृ० ७७।

† वही, पृ० ४४।

मिलता। मोहें जो दड़ो सदृश नगर मे जहाँ घनी जनसख्या के अतिरिक्त बाहर के लोग भी आया जाया करते थे, यह आवश्यक था कि सफाई का सु दर प्रबध रखा जाता। प्रत्येक सडक तथा गलियो में नालियाँ बनी थीं। नालियाँ २ इंच से लेकर १८ इच तक गहरी हैं। एक प्रधान सडक की बडी नाली मे ही चारों ओर की गलियों की नालियाँ आकर मिलती हैं। घरों का पानी प्रायः मिट्टी के परनालों या नलों द्वारा भी बह जाता था। नालियाँ साधारण ईंटो की ही बनती थीं। इनको जोड़ने के लिये मिट्टी या चूना-जिपशम-मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था। मध्य युग की एक नाली के पलस्तर मे चूना भी मिला हुआ है। आश्चर्य होता है कि जिपशम को छोडकर चूना इन लोगों ने क्यो पसद किया। चूना तो कहीं अधिक मूल्यवान् होता है। मिस्र, बेबीलोन आदि देशों तक मे चूना बहुत ही कम मात्रा में प्रयुक्त होता था*।

ये सभी नालियाँ ई टो या पत्थरो से ढकी जाती थीं। चौड़ी नालियो पर बडे पत्थर और बड़ी ईं टें लगाई गई थीं। नालियों में कभी कभी दतक मेहराब भी बनी होती थी। नालियो के कीचड़ तथा कूडे के लिये स्थान स्थान पर गड्ढे बने थे। नालियों से कीचड निकालकर इन गड्ढ मे डाला जाता था। बाद में यह कीचड़ भी गड्ढों से निकाल दिया जाता था। ये गड्ढे गहरे भी हैं। कुछ गड्ढो में तो नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। कभी कभी निजी घरो के परनाले बड़ी नाली मे न गिरकर मकान के बाहर बने हुए नाबदानों में गिरते थे। ये नाबदान तले की ओर छिद्रवाले घड़ो की तरह होते थे। कुछ स्थानों पर ये घड़े

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १६२।

चारो ओर से ईंटों से दवा दिए गए हैं। धनी लोग पक्की ईंटों के नावदान बनवा लेते थे। सड़क की नालियों के किनारों पर रेत के कई ढेर मिले हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि ये नालियाँ नियमित रूप से साफ की जाती थीं। इस प्रकार की नियमित सफाई से इन नालियों के पानी के वहाव मे कोई रुकावट नहीं होती थी।

सिंधु प्रांत निवासी मिट्टी की नालियाँ या वचे भी बनाते थे। इनके द्वारा भी मकानों का पानी वाहर निकाला जाता था।

कहीं कहीं गलियो की ओर की नालियो का पानी सीधे एक बड़े गड्ढे में जमा होता था और उन्हीं मे समा या सूख जाता था। कूड़ा आदि वाद मे जमादार उठा लेते रहे होंगे। चेटपुट (मद्रास) में प्राचीन काल के कई ऐसे गड्ढे मिले थे*। किंतु तक्षशिला और अन्य ऐतिहासिक युगो के जो गड्ढे हैं वे मोहें जो दड़ो के गड्ढों से कहीं अच्छे हैं।

निजी मकानों के अंदर कम नालियाँ होती थीं। संभवतः उस काल के भवनों मे भोजन तथा स्नानगृह अधिकतर सड़कों की ही ओर वनते थे। इनका पानी एकदम सड़क पर चला जाया करता था। ऊपरी खंड से पानी निकालने मे सदैव इस वात का ध्यान रखा जाता था कि पानी के छींटे आदि मार्ग मे आने जानेवाले लोगो पर न पड़ें। जहाँ पर मिट्टी के परनाले या नालियाँ टूट जाती थीं वहाँ जिपशम का पलस्तर लगा दिया जाता था।

स्नानागार तथा शौचगृहों की नालियाँ प्रायः दीवारों में ही बना दी जाती थीं। इनमें संभवतः पानी एकदम ऊपर से नीचे के खंड तक निकल जाता था।

---

* इंडियन ऐंटिक्वेरी, फरवरी १९३२, पृ० ३२।

जैसे जैसे भूमि की सतह उठती गई वैसे वैसे इन नालियों को भी ऊँचा करने की आवश्यकता पड़ी। किंतु ऐसा थोड़े ही समय तक किया गया। बाद को तो पुरानी नालियाँ छोड़ देनी पड़ीं और इनके स्थान पर नई नालियाँ बनाई गईं। अंतिम युग में नालियों की देख भाल के लिये कोई रक्षक नियुक्त नहीं रहता था। बाद की नालियाँ लापरवाही से बनाई गई हैं। इस युग में लोग मनमाने ढग से जहाँ चाहते नालियाँ बना लेते थे।

मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का वैसा ही प्रबंध था जैसा कि मोहें जो दड़ो में था*। किंतु मिस्र की नालियाँ इतनी सुंदर नहीं थी। मोहें जो दड़ो की कई नालियों में तो जोड़ के चिह्न तक नहीं दिखाई पडते।

मोहें जो दड़ो निवासी नगर-निर्माण-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थे। सभवत. उचित स्थान चुनने के बाद नगर का एक नकशा बना दिया जाता था। इस नकशे में यह दिखाया जाता था कि कहाँ पर कौन मकान बनेंगे और किस दिशा की ओर प्रधान सड़कें बनाई जायँगी। सड़कें एक दूसरी से प्राय: सम-कोणों पर कटती हैं। ये सड़कें बिल्कुल सीधी हैं (चि० स० १४)। एक लंबी सड़क, जिसको राजपथ नाम दिया गया है, पौन मील तक साफ की गई है। यह सड़क कहीं कहीं पर ३३ फुट चौड़ी है। गलियाँ ३ फुट से ७ फुट तक चौडी होती थीं। प्रधान सड़कें पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। इन सड़कों पर स्थित भवनों को शुद्ध हवा मिलती रही होगी। हवा का एक तेज झोंका एक कोने से दूसरे कोने तक की हवा को शुद्ध कर देता रहा होगा। इधर उधर की सब गलियाँ राजपथ से

---

* मैके—फ० य० ह०, पृ० १७० ।
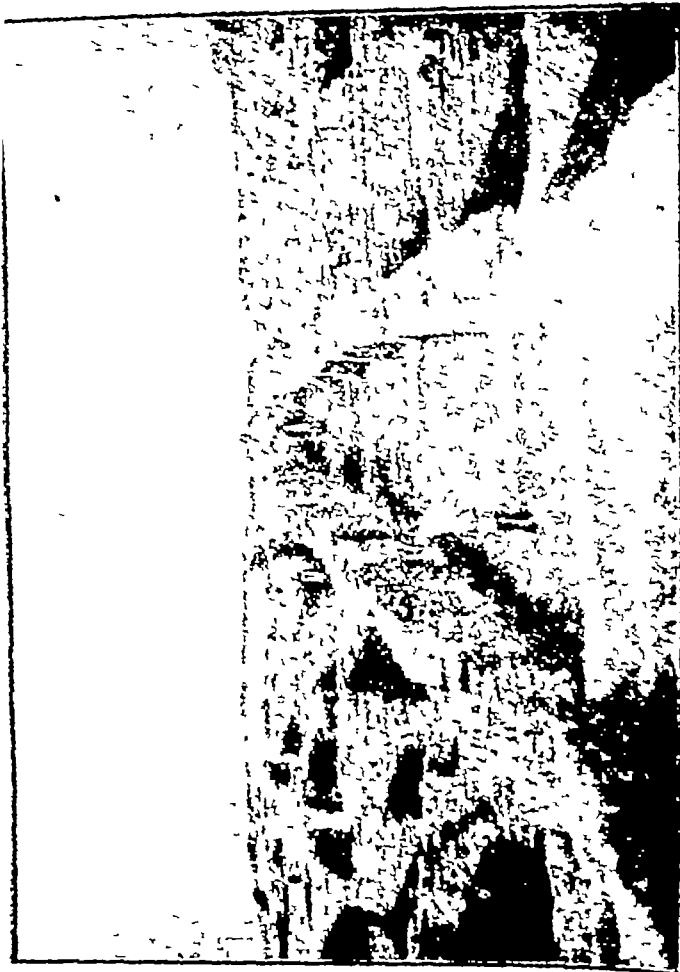
चि० सं० १४

मिल जाती थीं। प्रायः सभी सड़कें समानांतर हैं। इस समय सबसे महत्वपूर्ण सड़क वह है जो दक्षिण की ओर जाती हुई स्तूप-भाग को दो भागों में बाँटती है। इन सड़कों पर पहिएवाली तीन गाड़ियाँ तथा पैदल मनुष्य अच्छी तरह चल सकते रहे होंगे (चि० सं० १६ तथा २०)।

मोहें जो दड़ो की किसी भी सड़क पर ईंटें नहीं बिछी हैं। इस कारण वर्षा के दिनों में इन सड़कों पर कीचड़ भर जाता रहा होगा। फिर न जाने इन सड़कों पर बैलगाड़ियाँ या रथ, जिनका मोहें जो दड़ो में इतना अधिक प्रचार था, कैसे चलते रहे होंगे। एक सड़क पर कुछ टूटे बर्तनों तथा ईंटों के टुकड़े पड़े थे। शायद किसी समय यहाँ के नगरपतियों ने इन सड़कों पर चीजों के बिछाने का प्रयत्न किया होगा। प्रयोग के लिये ही ये चीजें इस सड़क पर डाली गई थीं।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सड़कें सदैव स्वच्छ रखी जाती थीं। ग्रीष्म ऋतु में जब धूल उड़ने का डर रहता था तो संभवतः सड़कों पर पानी छिड़कने का कोई प्रबंध कर दिया जाता था।

द्वितीय युग की एक सड़क के दोनों ओर लंबे और कुछ ऊँचे चबूतरे हैं। इनपर या तो रात्रि के समय लोग सोते रहे होंगे या इनपर हाट लगती रही होगी। ये दूकानें रात्रि में ८, ७ बजे तक खुली रहतीं और उसके बाद आजकल ही की तरह उठा ली जाती रही होंगी*।

सड़कों के मोड़ पर कई मकानों के कोने घिसे मालूम होते हैं। संभवत. ये कोने बोझा ढोनेवाले पशुओं द्वारा घिसे गए थे,

---

* आ० स० रि० १९२९-३०, पृ० १००।

जिनकी पीठ पर बड़े बड़े बोरे आदि रहते थे। किंतु कुछ मकानों के कोने तो जान-बूझकर गोल कर दिए गए थे। प्राचीन उर में भी सडकों के किनारों पर स्थित मकानों की दीवारों पर ऐसी ही रगड़ तथा गोलाई दीख पड़ती है।

एक प्रधान सड़क का अंतिम भाग द्वितीय युग में बंद कर दिया गया था। वहाँ पर एक चबूतरे पर पाँच गड्ढो की दो समानांतर पंक्तियाँ थीं। इन गड्ढों में रुकावट के लिये स्तंभ जड़े रहे होंगे। मि० मैके का अनुमान है कि इस स्थान पर एक चुंगी घर था। कौटिल्य के अमर ग्रंथ अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकार के करों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि बिक्री का माल सबसे पहले नगर के प्रमुख द्वार पर स्थित चुंगी घर में लाया जाता था। यहाँ पर फिर बोलियाँ बोली जाती थीं। जब माल की वास्तविक बिक्री हो जाती थी तभी विक्रेता से कर लिया जाता था*। संभव है ऐसी ही कर-प्रणाली सिंधु प्रांत में भी रही हो। इस प्रबंध को देखकर हमें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मोहें जो दड़ो नगर का प्रबंध कोई उच्च संस्था करती थी।

सड़कों पर उचित स्थलो पर कूडेखाने बने थे। निजी घरों में भी लोग अपने अपने कूडेखाने रखते थे। हडप्पा के कूड़ेखाने धरती में गड्ढे खोदकर ही बनाए जाते थे। इन कूड़ेखानो की सतह पर ईंटे बिछी हैं। नौकर लोग घरों मे झाड़ बुहारू देकर कूड़े को इन्हीं गड्ढो में फेंक देते थे। मोहें जो दडो में तो नगर के निकट ही ढेरों कूडा फेंका जाता था। इससे नगर में कुछ गंदगी फैलती रही होगी†।

---

* कौटिल्य—अर्थशास्त्र, २, २५।

† आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ५७।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे अनेक विचित्र घरों की दीवारें निकली हैं। कुछ विशेष घरों को सर जॉन मार्शल मंदिर वतलाते हैं* ।

एक वड़े भवन को सर जॉन मार्शल तथा रा० व० दयाराम साहनी ने खोदा था। इसके पूर्वी भाग में १२ समानांतर तथा ५२ फीट लंवी दीवारे हैं। इसकी वनावट से पता लगता है कि यह एक भंडारघर था। हमारा अनुमान है कि प्राचीन काल में मोहें जो दड़ो की सरकार को नगर निवासी अन्न के रूप में ही कर आदि देते थे। यह अन्न संभवतः इसी भवन में एकत्र होता था। ऋग्वेद मे यह कर 'वाली' कहलाता था। प्राचीनकाल मे राजा को कर रूप मे उपज का १/६ भाग देने की प्रथा थी और यह कर कौटिल्य के काल में भी प्रचलित था† ।

ऋग्वेद युग मे अन्न-संग्रह करने की विविध प्रथाएँ थीं। इसमें वर्णित शब्द 'खल', 'उपानस' तथा '·' तिर्दर—अन्न-संग्रह के भिन्न भिन्न ढगों को सूचित करते हैं‡ ।

हड़प्पा के कुछ भवनों को भी अन्न भडार माना गया है§ । इन मकानों की दीवारें वड़ी दृढ हैं और कहीं कहीं वे ६ फुट तक मोटी हैं। ये भवन दो लंवी पंक्तियों मे एक दूसरे के सामने हैं। प्रत्येक पंक्ति मे ६ वड़े वड़े भवन हैं। इन भवनो को भी छोटी छोटी दीवारों द्वारा कई भागों में वॉटा गया है। इन छोटी दीवारो के ऊपर लकड़ी की कड़ियाँ रखकर उनके ऊपर फर्श वैठाया जाता

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २०४।

† घोपाल—हिंदू रेवन्यू सिस्टम, पृ० ३५।

‡ देखिए—ऋग्वेद, १, ४८, ७, २, १४, ११, २, १४, २।

§ ऐ० वि० इ० आ०, जिल्द १२, १९३७, पृ० २।

था और उसी पर अन्न रखा जाता था। इन भवनो में अनाज रखने के अनेक बड़े बड़े घड़े भी मिले।

मोहें जो दड़ो के बड़े स्नानागार के उत्तर में छोटे छोटे स्नान-गृहों का एक समुदाय है। ये स्नानगृह भी दो पक्तियों में हैं। इनके बीच में एक तंग गली है जिसके नीचे एक नाली बहती है। ये सभी कमरे बड़े अच्छे ढग की ईटों से बिछे है। कमरों का फर्श दरवाजे की ओर ढलुवॉ है। इसी ओर से पानी बाहर निकल जाता था। इन कमरो में सीढ़ियॉ होने से अनुमान किया जाता है कि ये मकान भी दो खड के थे*। नीचे के कमरों के दरवाजे बहुत तग हैं। मि० मैके कहते हैं कि इन मकानो मे साधक या पुजारी रहते थे। वे पूजापाठ तथा ध्यान तो ऊपरी खड में करते रहे होंगे और नीचे के कमरों मे स्नान करते रहे होंगे। इन साधकों के लिये यह आवश्यक था कि वे ससार के कोलाहल से दूर रहें।

स्तूप के निकट एक विशाल भवन था। इस भवन की एक दीवार २३०·७ फुट लबी तथा ७८·५ फुट चौड़ी थी। बाहर की दीवारें कहीं कहीं ४ फुट मोटी हैं। संभवत. यह भवन दो या तीन खडों का था। इसमें कई बरामदे तथा प्रकोष्ठ थे। भवन के प्रमुख द्वार से प्रवेश करते ही एक स्वागत करने का बड़ा कमरा था। आश्चर्य है कि इस भवन में जल का कोई कुआँ नहीं है। इस भवन मे सभवतः प्रधान महत या साधु-समुदाय का कोई प्रधान रहता रहा होगा। इसमें रहने के कमरे दक्षिण की ओर थे और अन्य कार्यों के लिये भी उचित स्थानों पर कमरे बना दिए गए थे।

---

* आ० स० रि० १९२७-२८, पृ० ७०।

इस भवन में बाद में कई जातियों के लोगो ने आवश्यक परिवर्तन किए थे। बाद की बनी दीवारें अति साधारण है*।

एक महत्त्वपूर्ण इमारत को राजमहल माना गया है। इसकी दीवारें ७ फुट मोटी हैं। अन्य दीवारें केवल ३ फुट मोटी हैं। इसकी विचित्र तथा विशद बनावट से ज्ञात होता है कि यह राजभवन था। आज इस भवन की केवल नींवें ही दीख पड़ती हैं।

स्नानागार के निकट मध्ययुग का एक स्तंभाधार सभाभवन है। इसकी छत २० समचतुरस्रस्तंभों पर टिकी थी। प्रत्येक पंक्ति में ४ या ५ स्तंभ थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकतानुसार समय समय पर इस भवन में परिवर्तन किए गए थे। मि० मैके इसे एक दूकान बतलाते हैं, किंतु श्री दीक्षित कहते हैं कि यह भवन धार्मिक वाद-विवादों के निमित्त बना था। दूसरी ओर सर जॉन मार्शल इस भवन की तुलना बौद्धकालीन गुफा-भवनों से करते हैं†। इस भवन के बीच में प्रधान के लिये संभवतः एक चौकी बनी थी और अन्य लोगों के लिये किसी अस्थायी पदार्थ के आसन बनाए गए थे‡।

पटने में भी डा० स्पूनर ने सैकड़ों वर्ष बाद का एक १०० स्तंभों का सभाभवन खोद निकाला था। कतिपय विद्वानों ने इस भवन की तुलना पर्सिपोलिस के एकेमेनियन सभाभवनों से करके इस बात की पुष्टि की है कि पाटलिपुत्र के भवनों की रूपरेखा एकेमेनियन भवनों की ही शैली पर तैयार की गई थी§। किंतु

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० १०-१३।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, २०५।

§ आ० स० मे०, नं० ३०, पृ० ११-१२।

यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम कह सकें कि भारत का एकेमेनियन संस्कृति के साथ कोई सीधा संबंध था*। मोहें जो दडो की खुदाइयों से यह प्रमाणित हो गया है कि भारतवासी ५००० वर्ष पूर्व भी स्तंभोंवाले भवनों से परिचित थे।

सड़कों के किनारे के कुछ बड़े बड़े कमरों में गड्ढे हैं। इन गड्ढों में मिट्टी के बडे बड़े घड़े रखे जाते थे। ये शायद होटलों के कमरे थे और इन घड़ों में कोई मादक पदार्थ भरा रहता था। प्राचीन भारत में राजा को मदिरा की बिक्री से अच्छी आमदनी होती थी। कौटिल्य ने राज्य-कर्मचारियों की सूची में एक सुराध्यक्ष का भी उल्लेख किया है†। यह भी संभव है कि इन कमरों में प्याऊ स्थित रहे हों और घड़ों में शुद्ध जल भरा जाता रहा हो। जल का यह प्रबंध नगरसभा की ओर से होता रहा होगा। मोहें जो दड़ो के एक कमरे में तो एक कुआँ भी बना था। इसके निकट ही घडों को रखने के लिये कुछ गड्ढे बने थे। यह भी एक प्याऊ था‡।

प्रत्येक घर में एक आँगन होता था। इसी आँगन के एक कोने पर भोजनगृह बना रहता था। दो खंड के घरों में संभवतः पृथक् पृथक् परिवारों के लोग रहा करते थे। इस कारण सीढियाँ प्रायः बाहर ही से बनती थीं। जैसे जैसे कुटुंबों में व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई, घरों का भी विभाजन होता गया। स्थान की कमी के कारण लोग स्थान नहीं बना सकते थे। घरों को बनाते

---

* विशेष विवरण के लिये देखिए 'रूपम' सं० ३५-३६।

† कौटिल्य—अर्थशास्त्र, १, २५।

‡ मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २०५।

समय सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वे सड़कों में किसी प्रकार बाधक न हों।

घरों में पहले बड़े कमरे बना लिए जाते थे। उसके बाद उनका छोटे छोटे कमरों में विभाजन होता था। विभाजन की दीवारें सदैव बड़े कमरों की दीवार से हटकर होती थीं। एक की दीवारों में दूसरे की ईंटों का प्रवेश नहीं कराया जाता था*।

एक स्थान पर १६ इमारतें खोदी गई हैं जिनका प्रवेशमुख प्रधान सड़क की ओर था। ये सब भवन एक ही तरह के हैं। प्रत्येक भवन में एक कमरा सामने तथा दो कमरे पीछे की ओर बने हैं। अंदर के कमरों में हाथ-मुंह धोने के लिये भी एक स्थान बना था। यह संभवतः दुकानों का एक समूह था†।

एक दूसरी प्रधान सड़क के भी, जो नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर जाती है, दोनों ओर बड़े बड़े भवन हैं। इन भवनों की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं। संभवतः इन भवनों में बाहर से आनेवाले पशु और सामान रखे जाते थे।

कुछ छोटे छोटे मकानों में दरवाजे या खिड़कियाँ नहीं हैं। ये शायद तहखाने थे। इनमें जाने के लिये ऊपर से सीढ़ी रखी जाती रही होगी।

दीवारों के कुछ खाली स्थानों को देखकर ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर आलमारियों की चौखटें जड़ी रहती थीं। आलों के सदृश भी कुछ छिद्र हैं।

हड़प्पा में बारह विचित्र वृत्ताकार वेदियाँ मिली हैं। ये चार गोल ईंटों की तहों से बनी हैं। इनकी चिनाई में मिट्टी का ही

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २७२-७३।

† आ० स० रि०, १९२६-२७, पृ० ७७-७८।

पलस्तर पाया गया है। किंतु बाहर से ईंटों के जोड़ों पर जिपशम का पलस्तर लगा था। इन वेदियों के मध्य में गहरे गड्ढे थे जिनमें जली राख, गेहूँ तथा जौ पड़े थे। यह ज्ञात नहीं कि ये वेदियाँ किस कार्य के लिये बनी थीं*। संभवतः ये हवन की वेदियाँ थीं।

दो अलग अलग कुटुंबों के घरों के बीच सदैव कुछ स्थान छोड दिया जाता था जिससे किसी प्रकार के झगड़े की आशका न रहे। इससे ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो निवासी अपने जीवन को कितना शांतिमय रखना चाहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि मोहें जो दड़ो नगर में रात्रि के लिये पहरेदार नियुक्त थे। इन पहरेदारों के लिये सड़कों के कोनों पर कमरे बने थे। इन कमरों के दरवाजे सदैव प्रधान सड़क की ओर होते थे। मि० मैके का अनुमान है कि मोहें जो दड़ो नगर रक्षा के लिये कई भागों में विभाजित था। सड़कों पर कहीं कहीं दीवारें बना दी गई हैं। ऐसी ही दीवारो से संभवतः नगर के विभिन्न भागों की सीमा बनाई जाती थी। सुचारु शासन के लिये मौर्य काल में तो नगर चार भागों में बाँटे जाते थे, पर यह ज्ञात नहीं कि मोहें जो दड़ो नगर कितने भागों में विभाजित था।

गरीब लोगों के मकान सदा नगर से दूर बनते थे। चन्हू दड़ो की खुदाई से ज्ञात होता है कि वहाँ के कुछ मकानों की दीवारें घास-फूस की बनाई गई थीं। वहाँ अनेक स्थानों पर केवल फर्श और अँगीठियाँ ही दीख पड़ती हैं।

गरीब लोगों के पास इतना धन नहीं था कि वे अपने मकानो के लिये पकाई ईटें खरीद या बनवा सकते। हड़प्पा मे कई मकान कच्ची ईटों के बने थे। इसके अतिरिक्त हड़प्पा के दक्षिण-

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ७४।

पश्चिमी भाग में बाँस तथा लकड़ी के छड़ों की जली राख पाई गई थी। यह अनुमान किया जाता है कि इस भाग में बाँस तथा घास-फूस की झोपड़ियाँ थीं*। कुछ मकानों की दीवारें केवल मिट्टी की बनी थीं, जैसी आजकल भी देहातों में बनाई जाती हैं। इनमें कभी कभी दीवार के निम्न भाग या नींव में ईंटों के टुकड़े डाल दिए जाते थे। पतली दीवारें तो मूल से ऊपर तक केवल मिट्टी ही की बनी हैं।

सबसे छोटे मकान ३०×२७ फुट नाप के थे। इनमें प्रायः ४ या ५ रहने के कमरे होते थे। बड़े मकानों का आकार प्रायः इनसे दुगुना होता था। इन मकानों में छोटे छोटे तीस कमरे तक रहते थे।

नगर के किस भाग में किस आजीविका के लोग रहते थे, यह बतलाना कठिन है। मोहें जो दड़ो नगर के स्थापित होने के समय तो मकान केवल रहने के लिये बनाए गए थे, किंतु पीछे यह एक व्यापारिक नगर हो गया था। मोहें जो दड़ो के एक भाग में मिट्टी के टूटे और जले बर्तन तथा भट्ठे दिखाई पड़ते हैं। यहाँ संभवतः कुंभकारों का मुहल्ला था। यह मुहल्ला तब बसा होगा जब मोहें जो दड़ो की सभ्यता गिर रही थी†। अन्यथा कुम्हारों को इस नगर में स्थान मिलना कठिन होता। हड़प्पा में भी कुछ घरों को मजदूरों के घर माना गया है। इन घरों के बहुत ही कम चिह्न बच सके हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये बड़ी सावधानी के साथ बनाए गए थे। प्रत्येक घर में तीन कमरे तथा एक आँगन था। सभवतः आँगनों में भी ईंटें बिछी रहती थीं।

* वत्स—य० ह०, पृ० १६३।

† दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० २२।

गोल स्तंभ जिनका इतना प्रचार सुमेर मेसोपोटेमिया में था, मोहें जो दड़ो और हड़प्पा में प्राप्त नहीं हुए हैं। सर जॉन मार्शल के मतानुसार सिंधु प्रांत में शहतीरों के खभे प्रयोग में लाए जाते थे। खभों के चार आधार भी मोहें जो दड़ों में प्राप्त हुए हैं। इन आधारों में शहतीरों के लिये छिद्र बने हैं।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में भवनों के सजाने की कोई वस्तु नहीं मिली है। यदि भवन केवल साधारण ईटों ही के बनते थे तो एकरूपता के कारण वे अधिक सुदर नहीं होते रहे होंगे। चिरकाल से भारत सजावट और आडबर के लये प्रख्यात रहा है। इस आडबर-प्रेम का उदय बहुत कुछ स्वर्णकार की कला से हुआ है, क्योंकि भारतीय कला मे बहुत कुछ ऐसा अलकरण है जो सीधा स्वर्णकार की कला से आया है*। अजता, अलौरा, बाँकुडा, खजुराहो, भुवनेश्वर तथा दिलवाड़ा के मदिरों की कला भारतीय आडबर-प्रेम के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। सर जॉन मार्शल ठीक कहते हैं कि "आडबर-प्रेम" भारतीय कलाकार का जन्मसिद्ध अधिकार है। महात्मा बुद्ध की मूर्तियों में, अजता मे, हिंदू-जैन मंदिरों तथा मुगल सम्राटों के भवनों में, सभी जगह यह आडबर-प्रेम देखा जा सकता है"†।

किंतु इस आडबर से मोहें जो दड़ो का स्थापत्य अछूता है। शायद दुमजिले मकानों में जॅगले और खभे लकड़ी के होते थे। इनपर ही कारीगरी की जाती रही होगी। यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु प्रात में लकड़ी प्रचुर मात्रा मे मिल जाती थी।

---

* ग्रूनवेडल—बुद्धिस्ट आर्ट इन इडिया, अँगरेजी में जेम्स वर्जेज द्वारा अनूदित, पृ० ३०-३१।

† रूपम—अप्रैल १९२४, पृ० ६४।

मोहें जो दड़ो की ईंटें सिंधु-सभ्यता की गौरव की वस्तुएँ हैं। किंतु न जाने किन कारणों से इनपर कारीगरी नहीं की गई। ईंटों को भिन्न भिन्न ढंगों से दीवार मे चुनने को ही शायद वहाँ के निवासी सजावट मान लेते थे*।

इन सब बातों को देखने से पता चलता है कि सिंधु प्रांत के निवासी उपादेयता की ओर अधिक ध्यान देते थे। लौकिक दृष्टिकोण से वे अलंकरण को व्यर्थ समझते थे।

मानसार शिल्पशास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत ने प्राचीन काल मे स्थापत्य सिद्धांतों में कितनी उन्नति कर ली थी। मानसार मे निर्माणकार या 'स्थपित' की योग्यता के विषय में लिखा है कि उसे बौद्धिक तथा सांस्कृतिक दिशाओं में पूर्ण विज्ञ होना चाहिए। प्राचीन काल में भवन बनाने से पहले कई बातो की परीक्षा की जाती थी। सबसे उपयुक्त स्थान वह समझा जाता था जो पूर्व दिशा की ओर हो और ढलुवाँ हो। इस दिशा से भवन पर सूर्य की किरणें ठीक पड़ती हैं। भूमि की परीक्षा मिट्टी को सूँघने, चखने तथा इंद्रिय-अनुभव से होती थी। हैवेल साहब की धारणा ठीक है कि रहस्यवाद के अंतर्गत होते हुए भी भारतीय स्थापत्य सिद्धांतों में एक बड़ा वैज्ञानिक ज्ञान भरा पड़ा है†। सिंधु प्रांत में भी स्थापत्य-विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था।

फर्ग्यूसन तथा अन्य अनेक विद्वानों की धारणा है कि अशोक के काल से पहले भारत में इमारतें केवल लकड़ी ही की बनती थीं। डा० वैडेल तथा स्पूनर ने भी पाटलिपुत्र की खुदा-

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे, पृ० १६।

† हैवेल—एंशंट एँड मेडीवल आर्किटेक्चर ऑव् इंडिया, पृ० ७८।

इयों से यही प्रमाणित किया था*। इन बातों की पुष्टि मेगस्थनीज के वर्णनों से भी होती है†।

मोहें जो दड़ो तथा सिंधु प्रांत में पत्थर का कम प्रयोग हुआ है। पत्थर केवल विशेष इमारतों के लिये प्रयुक्त होते थे। श्वेत या पीले रग का पत्थर सिंधु नदी के तट पर स्थित सक्खर नामक स्थान से प्राप्त होता था। सगमरमर और खड़िया पत्थर किरथर पहाड़ियों से आता था।

अलबास्टर नमक की पहाड़ियों, गुड़गाँव तथा काँगड़ा प्रदेश से प्राप्त किया जाता था।

मोहें जो दड़ो की नगर-निर्माण प्रणाली वास्तव में बड़ी विशद थी। श्री दीक्षित तो कहते हैं कि ऐसी उत्तम प्रणाली ससार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। पर अतिम युग में मोहें जो दड़ो का स्थापत्य गिरता हुआ प्रतीत होता है। उस समय देखभाल के लिये कोई इंजीनियर या ओवरसियर नहीं थे। लोग बिना सोचे समझे मकान बनाने लगे थे। अनेक सड़कों को मकानों की दीवारों ने दबा लिया था। कभी मकान सड़कों से बहुत दूर बनते थे तो कभी बिल्कुल निकट। इससे नगर की सुषमा बिगड़ गई थी। इस युग में दो खड के मकानों का भी अभाव पाया जाता है।‡

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने यश के दिनों में मोहें जो दड़ो के चारों ओर किलेबंदी थी, यद्यपि उसकी दीवारों के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। प्राचीन काल के सभी नगरो में किले-

---

* आ० स० रि०, १९१२-१३, पृ० ७६।

† वैडेल—रिजल्ट्स ऑव् एक्सकैवेशन्स ऐट पाटलिपुत्र, पृ० ६४। अर्यान—इडिका, ६०।

वंदी की जाती थी। यह बात यूनानियो द्वारा लिखित वर्णनों से ही प्रमाणित नहीं होती वल्कि साँची तथा भारुत की कला से भी यही ज्ञात होता है। यदि मोहें जो दड़ो में कोई किलेवंदी थी तो उसके अवशेष बालू के नीचे कहीं दवे होंगे।

सिंधु प्रांत में श्री मजूमदार को अली मुराद तथा कोहत्रास नामक स्थानो में किलेवंदी के चिह्न प्राप्त हुए हैं। किंतु सिंधु-प्रांत में पत्थर की कमी के कारण प्रत्येक स्थान पर किलेवंदी करना आसान काम नहीं था*।

भारत मे अति प्राचीन किले की दीवारें अब राजगृह मे ही दीख पड़ती हैं। श्री धम्मपाल का अनुमान है कि इस स्थान की रूपरेखा प्रसिद्ध स्थापत्य विशारद महागोविंद ने तैयार की थी†। इन दीवारों के निर्माणकाल का कुछ पता नहीं है। इसके बाद हम स्ट्रैबो से सुनते हैं कि मौर्य-काल में पाटलिपुत्र के चारो ओर ५६० गुंबज सहित लकड़ी की किलेबंदी थी‡।

---

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० १४७-४८।

† विमानवत्थु, कमेंटरी पृ० ८२।

‡ मैकक्रिंडिल—एंशंट इंडिया, पृ० ४२।

अष्टम अध्याय

अन्य देशों के साथ संबंध

सिंधु प्रात की सभ्यता के पिछले वर्णन से पाठकों को इसकी सस्कृति के विषय मे बहुत कुछ ज्ञात हो गया होगा। इस वर्णन में हमने यत्र तत्र इस सभ्यता की तुलना इसके ही समकालीन अन्य प्राचीन देशों से की है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात हो गया है कि सिंधु प्रांत की सभ्यता सिंधु प्रात तक ही सीमित न थी।

महान् सभ्यताएँ एक ही देश तक सीमित नहीं रहतीं। प्रत्येक सभ्यता देशानुसार कुछ बातो में उच्च कौशल प्राप्त करती है और इस उच्च कौशल को दूसरी सभ्यताएँ सीखना चाहती हैं। यदि आवागमन की उचित सुविधाएँ हों तो यह और भी सरल हो जाता है। अफ्रेजियन कटि की सभ्यता के ही अतर्गत सिंधु-प्रांत की सभ्यता आती है। यह सभ्यता नदियों के निकट उत्पन्न होकर उन्हीं के किनारों पर स्थित नगरों में फैली थी। उपजाऊ भूमि में रहने के कारण लोगों ने खेती में तो उन्नति की ही, साथ ही सभ्यता-पूर्वक रहने का ढग भी उन्होंने सर्वप्रथम इन्हीं नदियों के तट पर सीखा।

प्रस्तर-ताम्र युग में भिन्न-भिन्न देशों के बीच कई बातों में समानता थी। फियास, घोंघे, रजत, स्वर्ण तथा टीन के प्रयोग से पूर्व के सभी लोग परिचित थे। खेती तथा पशुपालन भी इन सभी देशो में होता था। इसी प्रकार कुभकार की कला और कताई-

बुनाई से भी ये सभ्यताएँ परिचित थीं। किंतु इन सब समानताओं के होते हुए भी प्रत्येक देश ने अपनी अपनी संस्कृति में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लाने की चेष्टा की। यदि भारत में कपास की खेती और कताई-बुनाई होती थी तो मिस्र और बेबीलोन में अतसी की खेती तथा बुनाई होती थी। फिर मिट्टी के बर्तनों के ऊपर चित्रण करने में भी प्रत्येक देश ने कुछ अपनी विशेषता दिखलाई। सुमेर के बर्तनों पर मनुष्य-आकृति का चित्रण है, किंतु मोहें जो दड़ो के एक भी बर्तन पर मनुष्य-चित्रण नहीं हुआ है। चित्रलिपि भी सभी देशों में प्रचलित थी, किंतु आवश्यकतानुसार सभी देशों ने थोड़ा बहुत परिवर्तन अपनी अपनी लिपि में कर लिया था*। इन सभ्यताओं में मोहें जो दड़ो कई बातों में अग्रणी था। मोहें जो दड़ो में जो स्थापत्य निजी या सार्वजनिक भवनों मे दिखाई पड़ता है वह मिस्र तथा बेबीलोन के स्थापत्य से कहीं उच्चतर है†। फिर सड़कों को साफ रखने की जो सुंदर व्यवस्था मोहें जो दड़ो नगर में थी वह न तो मेसोपोटेमिया में दिखाई पड़ती है और न सुमेर ही में। इसके अतिरिक्त जब संसार के कई प्राचीन देशों में सूत का कपड़ा एक स्वप्न की वस्तु के समान था, उस समय सिंधुप्रांत-निवासी सूती कपड़े का प्रचुर प्रयोग कर रहे थे।

किंतु ये विशेषताएँ उच्च समाज को ही दीख पड़ती होगी। जनसाधारण के लिये तो सिंधु प्रांत का इसी लिये महत्त्व था कि यह एक उपजाऊ तथा धन-धान्य से परिपूर्ण भूमिखंड था। इस कारण यहाँ व्यापारी ही अधिकतर आते थे। भूमिमार्ग से

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ०, ९४।

† ऐ० वि० इं० आ०, १९३२, पृ० ६।

एक मनुष्य बाघ के साथ लड़ता दिखलाया गया है। सर जॉन मार्शल इस आकृति की तुलना मेसोपोटेमिया की दतकथाओं में वर्णित 'गिलगामेश' (इवानी वीर) से करते हैं।

मोहें जो दड़ो के शौचादि गृहों के ही समान कुछ शौचगृह मेसोपोमिया में भी थे। इनमें पानी को बाहर निकालने के लिये दोनों देशों में एक ही शैली के छिद्र बने थे।

भिन्न भिन्न प्रकार के सख्त पत्थरों की गुरियों के ऊपर सोने की टोपी चढ़ाने की प्रथा मोहें जो दड़ो, उर तथा सुमेर में प्रचलित थी। सुमेर में इस शैली की कम गुरियाँ थीं। मोहें जो दड़ो में इनके अधिकता से पाए जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस शैली की गुरियों का उद्गमस्थान मोहें जो दडो ही था; यहीं से ये गुरियाँ सभवत. सुमेर को भी भेजी गई थीं*।

डा० फ्रैंकफोर्ट को टेल आज्मर में कुछ ऐसे बर्तन प्राप्त हुए थे जिनकी सतह पर दाने बने हैं। इस शैली के बर्तन केवल नेसोपोटेमिया मे ही प्रचलित थे,। किंतु मोहें जो दडो में भी कुछ ऐसे बर्तन थे। यहाँ का एक बर्तन तो बिल्कुल टेल आज्मर के बर्तनों की तरह है।

किश में छिद्रों सहित मिट्टी की कुछ गोल वस्तुएँ मिली हैं। ये इतनी छोटी हैं कि इनके कठहारों में प्रयोग किए जाने में सन्देह होता है। सभवत ऐसी वस्तुएँ किसी खेल में काम आती थीं। ऐसी ही अनेक वस्तुएँ मोहें जा दडो में भी प्राप्त हुई हैं।

मोहें जो दड़ा की गुरियो तथा मूर्तियों पर जो त्रिपत्र शैली का चित्रण है वह निस्सदेह मेसापोटेमिया से लिया गया है। यह त्रिपत्र शैली यूनान तथा फारस में भी प्रचलित थी। पर यह

---

* इडियन ऐंटिक्वेरी, दिसबर, १६३१, पृ० ४६५।

ज्ञात नहीं है कि यह शैली कैसे उत्पन्न हुई। यह संभव है कि यह त्रिपत्र तीन वृत्तों के एक दूसरे को काटने से बना हो।

ककड़ पत्थर का बना एक कान का आभूषण श्री साहनी ने प्राप्त किया था। इसपर खुले पखों तथा चौड़े पैरोंवाले गरुड़ का चित्रण है। ऐसा चित्रण विशद रूप मे इलम तथा सुमेर में मिलता है। मोहें जो दड़ो में इस ढंग का चित्रण बहुत कम हुआ है। कदाचित् यह शैली फारस के ऊँचे पहाड़ों से निकलकर भारत में आई हो*।

उर की शाही कब्रों पर गोलाकार पिटे हुए सोने की गुरियाँ मिली हैं। ऐसी ही गुरियाँ मोहें जो दड़ो में भी प्राप्त हुई हैं। दोनों स्थानों की गुरियों की शैली एक सी है। यह बतलाना कठिन है कि इस शैली की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ हुई थी†।

हल्के नीले रंग के खड़िया पत्थर के एक बर्तन का एक खंड मोहें जो दड़ो में मिला है। इसपर चटाई की बुनाई का सा चित्रण है। सूसा, किस, फारस तथा टेल आज्मर के बर्तनों पर भी ऐसा चित्रण पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बर्तन मोहें जो दड़ो में बाहर से आया था। फिर अलउबेद में भी कुछ ऐसे बर्तन निकले हैं जो उन्हीं पत्थरों से बने हैं जिनसे कि कुछ भारतीय बर्तन बने हैं‡।

मोहें जो दड़ो मे प्राप्त एक दूसरे बर्तन से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण तो यहीं हुआ था, किंतु यह बर्तन किसी प्रकार बाहरी देशों में चला गया था। फिर इन देशों में इस बर्तन की

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० ६६४।

† वुल्ली—'दि रॉयल सिमेट्री, पृ० ३३६।

‡ मैके—फ़० य० मो०, पृ० ६२१।

शैली मे कई परिवर्तन किए गए थे। इसके बाद यह बर्तन फिर सिंधु प्रात में लौटा था*। संगमरमर की बनी इलम तथा सुमेर शैली की अनेक मुद्राएँ मोहेंं जो दड़ो में पाई गई हैं। ये मुद्राएँ भी इन देशों से यहाँ आई रही होंगी।

सिंधु प्रात तथा सुमेर के निवासी सिर पर नारों को भी बाँधते थे। ये नारे या तो स्वर्ण या रजत की पतली पट्टियों के बनते थे या ये बुने हुए होते थे। मोहेंं जो दड़ो में नारे का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे।

इनके अतिरिक्त मोहेंं जो दड़ो आदर्श की अनेक वस्तुएँ मेसोपोटेमिया में मिली हैं, और मेसोपोटेमिया आदर्श की मोहेंं जो दड़ो में। यह अवश्य है कि देशातरित होने के कारण इनमे कुछ परिवर्तन हो गए हैं। पशुओं के अवयवो से बनी आकृतियाँ दोनों देशो में थीं। किंतु बेबीलोन तथा सुमेर में जो बैल हैं वे दाढ़ीवाले हैं। मोहेंं जो दड़ो में भेड़ के सिरोंवाली आकृतियाँ दाढ़ी से युक्त हैं। संभवतः दाढ़ी सबधी विश्वासों का स्रोत एक ही था। भैंस तथा नीलगाय के सींगों का दोनों देशों में बराबर महत्त्व था। वुली महोदय का कहना है कि इन देशों में पाई गई वस्तुएँ आकार में छोटी हैं। इनको एक दूसरे देश में व्यापारी ही ले गए होंगे। इनसे पता चलता है कि या तो सिंधु प्रांत सीधा इन देशों से व्यापार करता था या कोई ऐसा मध्यस्थ केंद्र था जहाँ मोहेंं जो दड़ो तथा मेसोपोटेमिया के निवासियों का आना जाना रहा करता था। किंतु सिंधु प्रांत से बाहर के देशों में यहाँ की कम वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनसे व्यापार की कोई विशेष सभावन नहीं दीख

---

* हॉल एंड वुली—अलउबेद, पृ० ४२।

पड़ती है। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि सुमेर में कुछ भारतीय एजंट रहते थे*।

दूसरी ओर डा० फैंकफोर्ट कहते हैं कि केवल साधारण आवागमन से ही सभ्यता तथा संस्कृतियों में अधिक समानताओं का आना सभव नहीं है। ऐसे आवागमन से जातियों के रहन-सहन तथा धार्मिक विश्वासों में एकाएक परिवर्तन नहीं होता। कतिपय विद्वानो का कथन है कि इन सब देशो की सभ्यताएँ एक ही स्रोत से निकली हैं और शायद यह स्रोत फरात और नील के बीच कहीं स्थित था।

सिंधु प्रांत, इलम तथा सुमेर के संबंध में नाल की खुदाइयों से बहुत कुछ जाना जा सकता है। नाल की ऊपरी तहो पर तो हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो आदर्श के वर्तन मिले हैं, किंतु सबसे नीचे की सतह में बलूचिस्तान शैली के बर्तन थे। इस प्रकार नाल की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न युगों में दो देशों के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालती हैं।

बलूचिस्तान से भी मोहें जो दड़ो संबंधित था। सर ऑरियल स्टाइन की १९२७-२८ की खुदाइयो से ज्ञात हुआ है कि वजीरस्तान की पहाड़ियों के मूल पर सिंधु नदी की ओर किसी समय अच्छी बस्तियाँ थीं। सिंधु प्रांत की सभ्यता का किसी समय बलूचिस्तान के पूर्वी प्रदेशों, दक्षिणी भाग तथा डेराजात मे बड़ा प्रभाव था। किंतु बलूचिस्तान के पश्चिम में सिंधु-सभ्यता नहीं पहुंच सकी थी। इस भाग में फारस की सभ्यता का प्रभाव था। फारस से प्रभावित सभ्यता के सर्वोत्तम उदाहरण नाल में पाए गए हैं। नाल तथा सिंधु प्रांत की सभ्यताएँ कई बातों में एक दूसरे

---

* वुली—दि रॉयल सिमीट्री, पृ० ३९७—९६।

से भिन्न हैं। मोहें जो दड़ो की गैंतियाँ, दरॉतियॉ, छोटे औजारों के फल और कटारें नाल की ऐसी ही वस्तुओं से सर्वथा भिन्न हैं। नाल में पीतल तो पाया ही नहीं गया। मातृदेवी तथा बैल के खिलौने भी नाल में नहीं थे। पूर्वी बलूचिस्तान के बर्तनों पर वही कारीगरी तथा चिह्न हैं जो मोहें जो दड़ो के बर्तनों पर हैं। सुकटागन तथा मोहें जो दडो के मिट्टी के बर्तनों में तो शत-प्रतिशत समानता है। यह स्थान मक्रान में है। भारत तथा मक्रान के बंदरगाहों के बीच सभवतः किसी काल में व्यापार होता था। परस्पर वृत्तों को काटने के चित्रण की शैली मोहें जो दड़ो ही से बलूचिस्तान में पहुँची थी। क्योंकि मोहें जो दड़ो के अतिरिक्त यह शैली ससार के किसी अन्य देश को ज्ञात न थी। पीपल की पत्तियों के चित्रण शैली भी बलूचिम्तान-निवासियो ने मोहें जो दड़ो से ही ली थी। मातृदेवी तथा बैलों का धार्मिक महत्व भी बलूचिस्तान-निवासियों ने सिंधु प्रांत से ही सीखा था।

बलूचिस्तान में मोहें जो दड़ो शैली का एक छिद्रयुक्त बर्तन, एक ताम्र का सिर, तथा आहुति-आधार का एक खडित भाग प्राप्त हुआ है। शाही टप में भी पत्थर की एक गोल वृत्ताकार वस्तु मिली है। यह वस्तु भी मोहें जो दड़ो की मुद्राओं के सिरों पर रखी जानेवाली वस्तुओं के सदृश है।

यह आश्चर्य सा है कि मोहें जो दड़ो और हड़प्पा की मृण्मूर्तियों की तरह बलूचिस्तान में कोई मूर्तियां नहीं बनीं। मेही से प्राप्त मूर्तियॉ तो कमर से नीचे एकदम चिपटी कर दी गई हैं। बलूचिस्तान की मूर्तियों मे हाथ प्रायः वक्षस्थल को छूते दिखलाई देते है, किंतु मोहें जो दड़ो में हाथ बगल में गिरे रहते हैं। मि० मैके कहते हैं कि सिंधु प्रांत के निवासी कुंभ-कला मे बलूचिस्तान निवासियों से बढ़े चढ़े थे।

आजकल का बलूचिस्तान प्राचीन काल के बलूचिस्तान से भिन्न है। आधुनिक बलूचिस्तान उजाड़ तथा बंजर है, किंतु प्राचीन काल में यहाँ खूब वर्षा होती थी। यह खंड निस्संदेह बड़ा उपजाऊ रहा होगा। इसका प्रमाण वहाँ के उजाड़ गत्रखंघों में मिलता है*। सर औरियल स्टाइन को जितने भी उजाड़ उपनिवेश मिले हैं वे किसी समय सुदर व्यापारिक स्थान रहे होंगे। इनमें काफिले टिका करते रहे होंगे। किंतु आज सूर जंगल के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान में बस्ती नहीं है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिंधु प्रांत से बलूचिस्तान जाने के कई रास्ते थे। समृद्धिशाली होने के कारण दोनों देशों में आना जाना रहा करता था।

मिस्र सिंधु प्रांत से बहुत दूर है। इस कारण मिस्र देश की न तो कोई वस्तु मोहें जो दड़ो में मिली है और न मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की ही कोई वस्तु मिस्र में मिली है। किंतु कुछ उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है कि ये दोनो देश एक दूसरे से भली भाँति परिचित थे। कंठहारों में तीन भागों से बनी गुरियाँ तथा अर्धवृत्ताकर अंतक, इलम, मेसोपोटेमिया और सिंधु प्रांत के निवासिया को ज्ञात थे। संभव है यह शैली इन तीनों देशो ने एक ही स्रोत से ली हो। यह भी हो सकता है कि ये तीनो देश एक दूसरे से किसी रूप में सबंधित थे। इलम ही इन सब सस्कृतियों का केंद्र रहा होगा।

दूसरी वस्तु मोहें जो दड़ो में मिस्र आदर्श की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की मानव आकृति दाढ़ी वाली है। वह दाएं पैर को झुकाए और बाएँ घुटने को जमीन पर रखे है। मोहें जो दड़ो की

---

* आ० स० मे०, नं० ४३, पृ० १६०।

मूर्ति तो मिस्र देश की मूर्ति की प्रतिकृति जान पड़ती है। फिर मिस्र देश में कुर्सियों के पैर बैलों के पैरों के सदृश थे। बैल के पैरोंवाली कुर्सियों का चित्रण मोहें जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर भी है। चारों ओर से काटी हुई गुरियाँ भी मोहें जो दड़ो तथा मिस्र दोनो देशों में प्रचलित थीं। प्राचीन काल में मिस्रदेश-निवासियों ने इस शैली की गुरियों के बनाने में बड़ी कुशलता प्राप्त की थी। मोहें जो दडो की गुरियाँ भी मिस्र ही से आई रही होंगी।

मिस्र तथा सिंधु प्रात के निवासियों में कई धार्मिक समानताएँ भी थीं। मोहें जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक लब के साथ साथ कुछ पशुओं की मूर्तियाँ ले जाई जा रही हैं। ऐसे ही लब मिस्र के जलूसों में फैरोद के आगे भी हैं। मोहें जो दड़ो में दो ताँबे की पट्टियों पर तार या धागों की सजावट का चित्रण है। ऐसा चित्रण मिस्र देश के तेरहवें वश की मुद्राओं पर भी दीख पडता है। मोहें जो दडो के एक मिट्टी के तख्ते पर एक लेटी स्त्री दिखलाई गई है। मिस्र में भी ऐसे खिलौने बनते थे। वहाँ ऐसे खिलौने शवों के साथ रखे जाते थे।

मक्खियों की शक्ल की कई गुरियाँ हड़प्पा में मिली हैं। ऐसी गुरियाँ मिस्र, सुमेर तथा सिंधु प्रात-निवासियों को ज्ञात थीं। ये गुरियाँ तावीजों के लिये प्रयुक्त होती थीं*।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में भारत से मिस्र-को लोहा भेजा जाता था। वास्तव में सथालों तथा मिस्र देश-वासियों की औजार बनाने की रीतियों में बडी समानताएँ हैं।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६४२।

† मित्र—प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० १८४-८५।

मिस्र तथा यूनान के साहित्य से ज्ञात होता है कि ये देश पूर्वीय देशों से उट्‌न (एक प्रकार की धातु) मँगाते थे।

किंतु ये समानताएँ सिंधु प्रांत में सीधी मिस्र से नहीं आई होंगी। सुमेर तथा इलम में मिस्र की संस्कृति का प्रभाव था और यहीं से सिंधु प्रांत में भी मिस्र-संस्कृति का कुछ प्रभाव आया होगा।

मोहें जो दड़ो की दो मुद्राओं पर यूनानी क्रूशों का चित्रण है। नवीन पाषाण युग का एक क्रूश भी मोहें जो दड़ो में मिला है। यूनानी क्रूश इलम में बहुत पाए गए हैं। इन क्रूशों पर चौखट भी बनी है। संभवतः इस ढंग के क्रूशों की उत्पत्ति भी सिंधु प्रांत में ही हुई है।

डा० फाब्री प्रागैतिहासिक युग के यूनान तथा मोहें जो दड़ो की कुछ धार्मिक पद्धतियों में समानताएँ देखते हैं*। क्रीट के कतिपय भित्तिचित्रों में बैलों की लड़ाई के दृश्य दिखलाए गए हैं। बाद को इस खेल का नाम 'तौरकथपशिया' प्रचलित हो गया था। इन दृश्यों में मनुष्य कभी बैलों को पकड़ते और कभी उनके ऊपर से होकर कूदते दिखलाए गए हैं। मोहें जो दड़ो की एक मुद्रा पर भी ऐसा ही दृश्य अंकित है। इन खेलों का विशेष धार्मिक महत्त्व था। ये खेल मातृदेवी संप्रदाय से संबंध रखते थे। क्रीट में सींगों का भी विशेष महत्त्व था। यह बतलाना कठिन है कि इन दोनों देशों में कैसे ये समानताएँ आईं। यद्यपि भारत में मातृदेवी की पूजा का इतिहास अति प्राचीन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं पर अंकित यह दृश्य क्रीट से ही मोहें जो दड़ो में आया है। प्राचीन काल में क्रीट सप्त समुद्रों से व्यापार करता

---

* आ० स० रि०, १६३४-३५, पृ० ६३-१००।

था। सभवतः क्रीट के कुछ व्यापारी सिंधु-प्रांत के बंदरगाहों में भी आए थे।

पशुओं को एक पंक्ति में अंकित करने की शैली मोहें जो दड़ो के कुछ तावीजों पर है। इस ढग की चित्रकारी फारस, सूसा तथा मेसोपोटेमिया में भी प्रचलित थी*।

उरक तथा सिंधु प्रांत के बर्तन भी एक से ही थे। ये बर्तन या तो काले तथा लाल मिश्रित या हल्की नीली मिट्टी के बने हैं। वुल्ली महोदय का कहना है कि उरक लोग उत्तर से आए थे। उनका एक वर्ग, सभव है, सिंधु प्रांत में भी आया हो। अपनी तथा सिंधु प्रात की सभ्यता को मिलाकर इन्होंने उस सस्कृति को जन्म दिया जिसके अवशेष सारे सिंधु प्रात मे मिलते हैं†।

प्राचीन काल में भारत तथा ईरान में बड़ा घनिष्ठ सबध था। इन देशो में परस्पर शांतिमय व्यापार होता था। उस काल में खैबर तथा बोलन के दो प्रसिद्ध दर्रों से ही आवागमन होता रहा होगा। भारत तथा ईरान के बीच का सीमा-देश अरघनक तथा कतरनक नदियों के बीच स्थित था। संभवतः प्रसिद्ध नदी हरवैती भी यहीं पर थी।

प्राचीन भारत मे आवागमन के मार्ग जल और थल दोनो से होकर थे। ये दोनों मार्ग बराबर व्यापार में रहे होंगे। मोहें जो दड़ो के बर्तन पर पतवार सहित एक नाव बनी है। ऐसी नावें बडी नदियों में चला करती रही होंगी‡। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रांत के निवासी नौ-विद्या में निपुण थे। यहाँ के निवासी

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६५३।

† चाइल्ड—न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एशट ईस्ट, पृ० २२५।

‡ मैके—इ० सि०, पृ० १७७।

नदियों के तट पर रहते थे। सुविधा के लिये प्रत्येक सपन्न व्यक्ति अपनी अपनी नावें रखता रहा होगा। मछली मारने तथा व्यापारिक वस्तुओं को ले जाने के लिये भी वे नावें प्रयुक्त होती थीं। आज दिन भी सिंधी लोग अच्छे नाविक होते हैं। उनके यहाँ की बनी हुई नावे कई प्रकार की होती हैं। इनमें डूँडी, जुंपटिस तथा जोरुक मुख्य हैं।

यह ज्ञात नहीं है कि सिधुप्रांत-निवासियों का सामुद्रिक ज्ञान कैसा था। शंख, सीपी तथा घोंघे (जो अच्छी सख्या में सिंधु प्रात में मिले हैं) के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रांत के लोग समुद्र से अच्छी तरह परिचित थे। मि० मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमें एक जहाज बना है। इस जहाज में मस्तूल नहीं है, और इस कारण अनुमान किया जाता है कि यह जहाज किसी नदी में ही चलता रहा होगा*।

ऋग्वेद के कई स्थलों पर समुद्र का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

१. वेदा योवीना पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वे दनावः समुद्रियः।

२. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्। ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः†।

किंतु यह बतलाना कठिन है कि ऋग्वेद में 'समुद्र' शव्द का वास्तविक अर्थ क्या था। विद्वानों की धारणा है कि आर्य लोग नदियों ह '.को समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के किसी भी मंत्र में इस वात का उल्लेख नहीं है कि वहाँ पतवार और जहाज किसी सामुद्रिक यात्रा के लिये प्रयुक्त होते थे‡। ऋग्वेद के एक मंत्र में

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ३४०।

† ऋग्वेद १, २५, ७; १, ४८, ३।

‡ कैं० हि० इं०, जिल्द १ पृ० १०१।

अवश्य वर्णन है कि कुछ लोगों को जल से थल तक पहुँचने में तीन दिन लगे थे। हमारी धारणा है कि इस मंत्र के लिखनेवाले व्यक्ति से किसी ने समुद्र-यात्रा का वर्णन किया होगा। कदाचित् इसी के आधार पर उसने ऐसा लिखा हो।

प्राचीन काल में भारत बाहर के कई देशों से व्यापार करता था। डा० सेईस के मतानुसार ई० पू० ३००० में भारत तथा बेबीलोन के बीच व्यापार होता था*। इसके प्रमाण हमें उर से प्राप्त भारतीय 'ऊर्ण' में मिलते हैं। बेबीलोन के कपड़ों की एक सूची में भी 'सिंधु' शब्द मलमल के लिये प्रयुक्त हुआ है। नेबूछेदनेजर (ई० पू० ६०४-५६२) के महल में भारतीय देवदारु की एक कड़ी मिली थी†। बावेरु जातक से ज्ञात होता है कि बेबीलोन को भारत से मोर ले जाए गए थे‡। ब्रिटिश म्यूजियम में प्रदर्शित एक गोल नालिका से ज्ञात होता है कि असीरिया के सम्राट् सेन्नाचेरिब ने निन्नवेह मे भारतीय कपास के पौधे लगाने का प्रयत्न किया था, किंतु उसे अपने उद्योग में सफलता नहीं मिली§।

चाल्डिया के कुछ उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि उर नगरी के कई जहाज भारत से सुवर्ण लाते थे। इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में उर का भारतीय बंदरगाहों के साथ संबंध था।

---

* ज० रा० ए० सो०, १८६८, पृ० २४१-८८।

† मुकर्जी—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन शिपिंग, पृ० ८७।

‡ जातक—अनूदित, कावेल ऐंडरूज, पृ० ८३।

§ प्रोसीडिंग्ज ऑव दि सोसाइटी ऑव बिब्लियोग्रैफिकल आर्कियोलॉजी, १६०६, पृ० २३६।

अरब इतिहासज्ञों के काल तक सिंधु में अच्छे अच्छे बंदरगाह थे। किंतु उस समय भी मिट्टी भर जाने के कारण नदियों के मुहाने खराब हो रहे थे। देवाल, तत्था इत्यादि स्थान एक समय सिंधु प्रांत के विख्यात बंदरगाह थे। सन् १८१२ ई० में निकोलस विरिंगटन ने तत्था के विषय में लिखा था कि 'इंडीज में तत्था के सदृश अन्य कोई बंदरगाह नहीं है'। ढाई वर्ष बाद टैवरनियर ने इस बंदरगाह को बुरी दशा में देखा। ऐतिहासिक युग में अरब देश के तट पर ऐसे जहाजी थे जो कि इथियोपिया, सिंधु तथा अन्य खाड़ियों के बंदरगाहों से व्यापार करते थे*।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मोहें जो दड़ो के वास्तविक निवासी यहीं के निवासी थे या बाहर से आए थे। हम अभी कह चुके हैं कि सिंधु-सभ्यता के अवशेषों का अध्ययन करने से इसमें अनेक वैदेशिक तत्त्व दिखलाई देते हैं। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, मोहें जो दड़ो की वस्तुओं की एक अपनी विशेषता है। यदि यहाँ लोग बाहर से आए भी थे तो वे दीर्घकाल तक यहाँ रहे होंगे। शताब्दियों तक यहाँ रहने के पश्चात् उन्होंने अपनी तथा स्थानीय सभ्यता को मिलाकर एक नवीन संस्कृति की स्थापना की। इसका प्रमाण यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर मिलता है। मोहें जो दड़ो के पहले के बर्तनों पर विदेशी प्रभाव है, किंतु बाद के बर्तनों में स्थानीय तथा स्वतंत्र शैली दीख पड़ती है।

संभवतः कुछ सिंधी सौदागर किश तथा सूसा में भी रहते थे। आज कल की ही तरह उन दिनों भी लोग आजीविका के साधन ढूँढ़ने इधर उधर जाते रहे होंगे। बाहर के लोग तो

---

* रौलिन्सन—इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ३।

अवश्य ही इस स्वार्थ से सिंधु प्रात मे आते थे। आज दिन भी बलूचिस्तान की ओर से कई कबीले या जत्थे जीविका पाने की आशा मे भारत की ओर आया करते हैं*।

सिंधु प्रात में पश्चिम से आने का एक उदाहरण आईवेक्स (आल्प्स पर्वत के जगली बकरे) के चित्रण में मिलता है। इस पशु का चित्रण मोहें जो दड़ो और हड़प्पा के मिट्टी के बर्तनों और मुद्राओं पर पाया जाता है। चन्हू दड़ो की एक मुद्रा पर भी इस पशु का चित्रण है। स्मरण रहे कि सिंधु प्रात में यह पशु नहीं पाया जाता था। आईवेक्स सदैव उजाड़ तथा पथरीली भूमि को पसद करता है। पश्चिम ही से आईवेक्स के चित्रण की शैली सिंधु प्रात में आई थी†।

सर औरियल स्टाइन की धारणा ठीक है कि किसी समय बाहर से लोग भारतीय-ईरानी सीमा को पार करते हुए भारत में आए थे। इस बात की पुष्टि बोगाजकोई के लेखों से भी होती है। बोगाजकोई खत्ती लोगों की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम खत्तूशश था। यह विलायत प्रात के अकोरा नामक स्थान में स्थित है‡। इस लेख का काल ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दि के मध्य का है। इसमें इंद्र, वरुण तथा नासत्य सहोदरों का उल्लेख है। डा० गाइल्स के अनुसार यह लेख यह प्रमाणित करता है कि आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहे थे§।

---

* चाइल्ड—न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एशट ईस्ट, पृ० १८५।

† आ० स० मे०, न० ४८, पृ० १५२।

‡ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १४वाँ सस्करण, जिल्द ३, पृ० ५३८।

§ कै० हि० इ०, जिल्द १, पृ० ७२।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंधु प्रांत अनेक सभ्यताओं को शरण दे रहा था। यह बात प्रागैतिहासिक युग में ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक युग में भी दीख पड़ती है। सैकड़ों सभ्यताओं तथा संस्कृतियों ने यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने का यत्न किया किंतु उन्हें भारतीय सभ्यता ने बड़ी सफलता से अपनी सभ्यता में रँग लिया।

उपसंहार

एक लंबी गाथा के बाद मन में प्रश्न उठते हैं—क्या सचमुच हम सभ्यता के इतने ऊँचे धरातल पर पहुँचे हुए थे ? हृदय कहता है हाँ, किंतु मुँह ऐसा कहने में संकोच करता है। सिंधु प्रांत की जीर्ण शीर्ण काया में प्राचीन युग की वैभव-स्मृति को देखकर एक ओर जहाँ हम गौरव से मस्तक ऊँचा करते हैं वहाँ दूसरी ओर हमारे हृदय में स्रोत उमड़ पड़ता है। इन विशाल नगरों की अपार चहल-पहल, इनके भवनों की गर्वोन्मत्त ऊँची अट्टालिकाएँ, नागरिकों की ठहाके की हँसी तथा कार्य-व्यस्तता, सब अतीत की वस्तुएँ हो गई हैं। अपने यश के दिनों में सिंधुप्रांत निवासी एक उज्ज्वल तथा सुखमय भविष्य का स्वप्न देखते रहे होंगे, किंतु विधि का विधान, ३०० वर्षों के ही अंदर वह इतिहास की वस्तु बन गया ! आज इन भग्नावशेषों में एक ओर तो सनसन करती हुई वायु के साथ आहें निकलती हैं, दूसरी ओर भिन्न भिन्न प्रकार के कीट, श्यामकल्याण राग में सिंधु प्रांत के लुप्त गौरव का गान करते रहते हैं।

वे यश के दिन थे जब मोहें जो दड़ो एक विशाल नगरी थी। जीवन को मधुरिमामय बनाने के लिये यहाँ के निवासियों ने अनेक प्रकार की सुविधाओं तथा शिल्पों की सृष्टि की। किंतु इस ऐश्वर्य की भी आयु थी। ससार मे क्या चर क्या अचर, क्या सभ्यता क्या संस्कृति, सभी की एक निश्चित अवधि होती है। इस अवधि की समाप्ति पर सबको नियति के सम्मुख झुकना पड़ता है। इसी को हम होनहार या ईश्वर-प्रेरणा कहते हैं।

एक युग की समाप्ति के बाद दूसरा युग आया। सिंधु-सभ्यता की समाप्ति के बाद भी भारतीय इतिहास चलता रहा। किंतु खेद है कि अभी तक सिंधु-सभ्यता के युग से लेकर ई० पू० ५०० वर्ष तक के भारतीय इतिहास के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। विकास तथा ह्रास की आँधी में हमारा देश इन शताब्दियों में कहाँ कहाँ गोते खाता रहा, यह हमे ज्ञात नहीं है। बिहार में स्थित राजगृह ही एक ऐसा स्थान है जिसके भग्नावशेषों की आयु अति प्राचीन मानी जाती है। राजगृह में किलेबंदी के तथा दूसरे जो पत्थर हैं उनपर उत्कीर्ण लिपि इस स्थान की प्राचीनता को सिद्ध करती है।

सिंधु-सभ्यता के सदियों पूर्व भी भारत मे पाषाणयुगीन सभ्यता थी। इस युग के अधिकतर औजार या हथियार दक्षिण भारत में ही प्राप्त हुए हैं। कतिपय विद्वानों की धारणा थी कि उत्तरी भारत में पीतल का युग आया ही नहीं। उनके कथन के अनुसार भारत में एकदम से ताम्रयुग आ गया था। किंतु भारत में पीतल का युग अवश्य आया था, यह सिंधु प्रांत की खुदाइयों से प्रमाणित हो गया है। उसके बाद ताम्रयुग आया। ताम्रयुग की बहुत सी वस्तुएँ हुगली नदी से लेकर बलूचिस्तान तक मिली हैं। गूँगेरिया, वांदा, बिजनौर, बिठूर, आदि स्थानो में ताम्रयुग की महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। अभी इन युगों की वस्तुओं का नियमित रूप से अध्ययन नहीं हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में पुरातत्व विभाग तथा देश की अन्य अन्वेषण-समितियाँ इस ओर ध्यान देंगी।

सिंधु-सभ्यता एक नटी की भाँति कुछ ही क्षणों में फिर रगमच से अतर्धान हो गई। किंतु उसका प्रभाव दृढ़ तथा अमिट था। इस सभ्यता ने ५००० वर्ष पूर्व जिन प्रणालियों का बीजा-

रोपण किया था उनमें से कई अनवरत रूप से अभी तक चली आ रही हैं। मातृदेवी शिव, लिंग, जल, और वृक्ष की पूजा आज दिन भी प्रचलित है।

चिरकाल से सिंधु प्रांत, पंजाब तथा सीमाप्रांत पर बाहरी देशों की दृष्टि रहती आई है। अपनी क्षुधातृप्ति या साम्राज्य-विस्तार के लिये कई बार यहाँ बाहरी जातियाँ आईं। ऐतिहासिक युग में डेरियस तथा सिकंदर इस खंड पर शासन करने आए। उन्होंने यहाँ अपने देश की संस्कृतियों को फैलाना चाहा। "भारत ने सहर्ष इन संस्कृतियों का स्वागत किया, किंतु उन्हें सहसा ग्रहण नहीं किया। चारों ओर आकाश को चूमती हुई विशाल पर्वतश्रेणियों तथा अगाध सागरों से घिरा होने के कारण भारत को अपने मोक्ष के साधन ढूँढ़ने का उपयुक्त अवसर मिला। अलक्षेंद्र से पहले या उसके बाद भी भारतवासियों ने बाहर जाने के बंधनों तथा रुकावटों की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समस्त प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु पश्चिम की किरणों का भी उन्होंने स्वागत किया।"*

भारत की सबसे बड़ी महत्ता तो यह थी कि उसने अन्य संस्कृतियों को अंगीकार कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को और भी विस्तृत तथा व्यापक बनाया।

ऐतिहासिक युग में भारत का बाहरी देशों पर विशेष प्रभाव पड़ा। ऐसा शांत तथा मृदु प्रभाव संसार के इतिहास में कम मिलता है। जूलियस सीजर या नेपोलियन की तरह भारत ने संसार को कभी साम्राज्य-विस्तार के लिये विजय नहीं किया। इस देश की ओर आकर्षित होने का कारण यहाँ की उच्च परंपराएँ

---

* गौरांगनाथ बनर्जी—हेलिनिज्म इन एंशंट इंडिया, पृ० ३.

तथा आदर्श थे, जिनके नायक थे प्राचीन ऋषि-मुनि, बुद्ध, महावीर तथा सम्राट् अशोक। इस देश के ऋषि-मुसियों ने सदैव मानव-कल्याण की शुभ कामना की—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

(अर्थात् सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई दुःख का भागी न हो।)

बौद्ध काल मे सैकड़ो विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन के लिये तक्षशिला, विक्रमशिला तथा नालदा के शिक्षा-केंद्रो में आते थे। हुएनसांग जिसने गोबी के भयकर रेगिस्तान, ताइन शान, हिंदूकुश, सिंधु, गंगा तथा पामीर के पठार की कठिन यात्रा बड़े प्रेम से पूरी की, इन्हीं आदर्शों तथा ज्ञान को (जिसको उसने महामति शीलभद्र तथा स्थिरमति से सीखा) सुनकर भारत आया था।

हम इस समय ऐतिहासिक युग का वर्णन कर रहे हैं, किंतु हमारा विचार है कि उस प्रागैतिहासिक युग में भी भारत इसी प्रकार सस्कृतियों का गुरु था। उस काल मे भी भारत ने अन्य जातियों को धर्म तथा नैतिकता का संदेश दिया था। पर यह भी सभव है कि उस काल में भारत में ज्ञानपिपासा शात करने के लिये कोई न आया रहा हो। बाहर से आनेवाली जातियाँ धनलोलुप थीं और वे सिंधु प्रात में केवल धनोपार्जन के ध्येय को लेकर आती थीं। किंतु भारत अपने आदर्शों के प्रचार में तत्पर रहा होगा।

५००० वर्षो के अदर संसार मे कितना परिवर्तन हो गया है! इस बीच मे ससार ने क्या देखा? मिस्र, बेबीलोन, रोम तथा यूनान का पतन, इगलैंड की औद्योगिक क्राति, फ्रास की राज्य-क्रात आदि। और अब प्रतिदिन हम देख रहे हैं कि विज्ञान के

करतबों द्वारा मनुष्य घुन की तरह पीसे जा रहे हैं। इन ५००० वर्षों में कई सभ्यताओं ने करवटें लीं। कई देश ऊपर उठे, कई धूल में मिले। कई राष्ट्रों का क्षणिक उत्थान हुआ जिसके कारण उनकी परंपराओं के कोई भी चिह्न आज दिन नहीं मिलते। पानी के बुलबुलों की तरह वे ऊपर उठे और शीघ्र ही विलीन हो गए। दूसरी ओर हम देखते हैं कि सिंधु प्रांत की अनेक परंपराएँ आज के भारत मे वर्तमान हैं। सिंधु प्रांत की सभ्यता की एक विशिष्ट आत्मा थी। वही आत्मा इन परंपराओं को इन ५००० वर्षों में एक युग से दूसरे युग तक ढकेलती चली आ रही है।

संभवतः कालांतर में सिंधु प्रांत-निवासियों के जीवन में असमानता ने प्रवेश कर लिया था। हम अन्यत्र देख ही चुके हैं कि मोहें जो दड़ो में अधिकतर व्यापारी ही रहते थे। और यदि वहाँ लोग 'गणों' में संगठित नहीं थे तो पूँजीपतियों का अवश्य वहाँ बोलबाला रहा होगा।

इतने वर्षों के अनंतर जब हम सिंधु प्रांत के निवासियों की कौतूहलजनक कल्पनाओं तथा उनके प्रयोग की वस्तुओं की ओर देखते हैं तो कैसी सुखद स्मृतियाँ हृदय में जागरित होती हैं! सिंधु-सभ्यता को हम परिपक्व रूप मे पाते हैं। इसका जन्म तो न जाने कितने हजार वर्ष पहले हो चुका था। आज हम इस संस्कृति और सभ्यता के आचार तथा व्यवहार को ही देखने का यत्न करते हैं। किंतु हमें इन लोगों का यशोगान नहीं करना है। संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का कदापि यह अर्थ नहीं कि हम किसी देश के महत्वपूर्ण तथा वीरोचित कार्यों की प्रशंसा करते फिरें। हमें तो यह देखना चाहिए कि उन लोगों की भावनाएँ तथा कल्पनाएँ किस सीमा तक पहुँची थीं, उन लोगों में आदर्शों का पालन करने की कितनी शक्ति थी और भूगोल और इतिहास

का उनके कार्यों तथा सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा था। इन सब बातों की परीक्षा के बाद ही हम इस बात को जान सकते हैं कि मनुष्य के ज्ञान-भंडार के लिये उनकी वास्तविक देन क्या है।

इन थोड़े से पृष्ठों में मैंने मोहें जो दड़ो तथा सिंधु-सभ्यता की कहानी समाप्त की है। किंतु वास्तव में यह बात नहीं है। संसार में किसी भी कहानी का अंत नहीं होता, दृष्टि से हटकर ये कहानियाँ मनुष्य के हृदयों में शांति-पूर्वक वास करती हैं। यदि संसार इन कहानियों को नहीं देख सकता तो दूसरी बात है। भूतकाल से भविष्य दृढ़ता के साथ संबद्ध है। जब तक मनुष्य तथा सभ्यता नाम की कोई वस्तु संसार में रहेगी, इन विशाल नगरों की कहानियाँ चलती जायँगी। भिन्न भिन्न दृष्टि कोणों से लोग इनपर विचार करेंगे। फिर भी एक बात में वे सब रहेंगे, क्योंकि अनेक परिस्थितियों में रखे जाने पर भी हम सब हृदय से एक ही हैं, और वह बात है मनुष्य-उद्यम की पराकाष्ठा तथा जीवन की नश्वरता का विचार। कभी तो उन्हें मनुष्य के उद्यम पर गौरव होगा जिसके आधार पर इतनी उच्च सभ्यताएँ खड़ी हुई, और कभी वे जीवन की निस्सारता पर विचार करने लगेंगे। इसी निस्सारता से प्रभावित होकर प्राचीन ऋषि, मुनि सांसारिक भोग-विलासों को छोड़कर भयंकर वनों तथा कंदराओं में तप करने निकले थे और इसी 'मिथ्या' तथा क्षण-भंगुरता पर विचार करने के कारण भगवान् बुद्ध लौकिक ऐश्वर्यों से विरक्त हुए थे। ज्ञानोदय होने पर फिर मनुष्य महाकवि कालिदास के साथ कहेंगे—

> मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
>
> विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।
>
> —रघुवंश ८।८७

अर्थात् विनाश शरीरधारियों का स्वाभाविक धर्म है, बुद्धिमान् लोग जीवन को उस स्वाभाविक धर्म की एक विकृति मात्र कहते हैं—

और

एकातविध्वंसिषु मद्विधाना,
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ।

—रघुवंश २।५७

अर्थात् जितने भौतिक पिंड हैं वे अततोगत्वा अवश्य नाश को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये बुद्धिमान् उनके प्रति अधिक आस्था नहीं रखते। केवल यशःशरीर ही इस लोक में शेष रह जाता है।

ससार में दो दिन कोलाहल मचाकर मिट्टी के पुतले मनुष्य मिट्टी ही में मिल जाते हैं। रह जाती हैं केवल स्मृतियाँ। भविष्य के लोग फिर उनके कार्यों की निंदा या प्रशंसा करते फिरते हैं। किंतु उन्होंने भी मानव जीवन की लघुता तथा विशलता का रसास्वादन किया था। वे सब हमारे ही जैसे साधारण पुरुष थे—देव-पुरुष नहीं। इस कारण भविष्य के मनुष्यों का इन अस्तगत सभ्यताओं के लोगों के प्रति सदैव सहानुभूति का दृष्टिकोण होगा। जिस प्रकार एक कुशल गवैया टूटी वीणा के टूटे तारों को देखकर उनसे एक वार निकली हुई कोमल स्वरलहरियों की याद करता है, उसी प्रकार भविष्य के लोग भी सिंधु-सभ्यता के अवशेषों को देखकर उस स्वर्णमय युग का अनुमान कर लेंगे और फिर मेरी कोलरिज के साथ कहेंगे—

"महान् मिस्र देश चूर चूर होकर विस्मृत के गर्त्त में विलीन हो गया है। यूनान; ट्राय नगर, रोम की महत्ता, वेनिस का गौरव

सब मिट्टी में मिल गए हैं। शेष रह गए हैं केवल वे धूमिल, क्षणिक भ्रांतिपूर्ण स्वप्न जो इन महान् देशों की संतानों को दिखाई पड़ते हैं।"❀

❀ Egypt's might is tumbled down.
Down adown the deeps of thought.
Greece is fallen and Troy town,
Glorious Rome hath lost her crown,
Venice's pride is nought
But the dreams their Children dream.
Fleeting unsubstantial, vain
Shadowy as the shadows seemed,
Airy nothing, as they deemed,
These remain

—Mary Colr dge.